SANSKRIT-KAVYA-LEHRI

BY

PROF SANSAAR CHANDRA





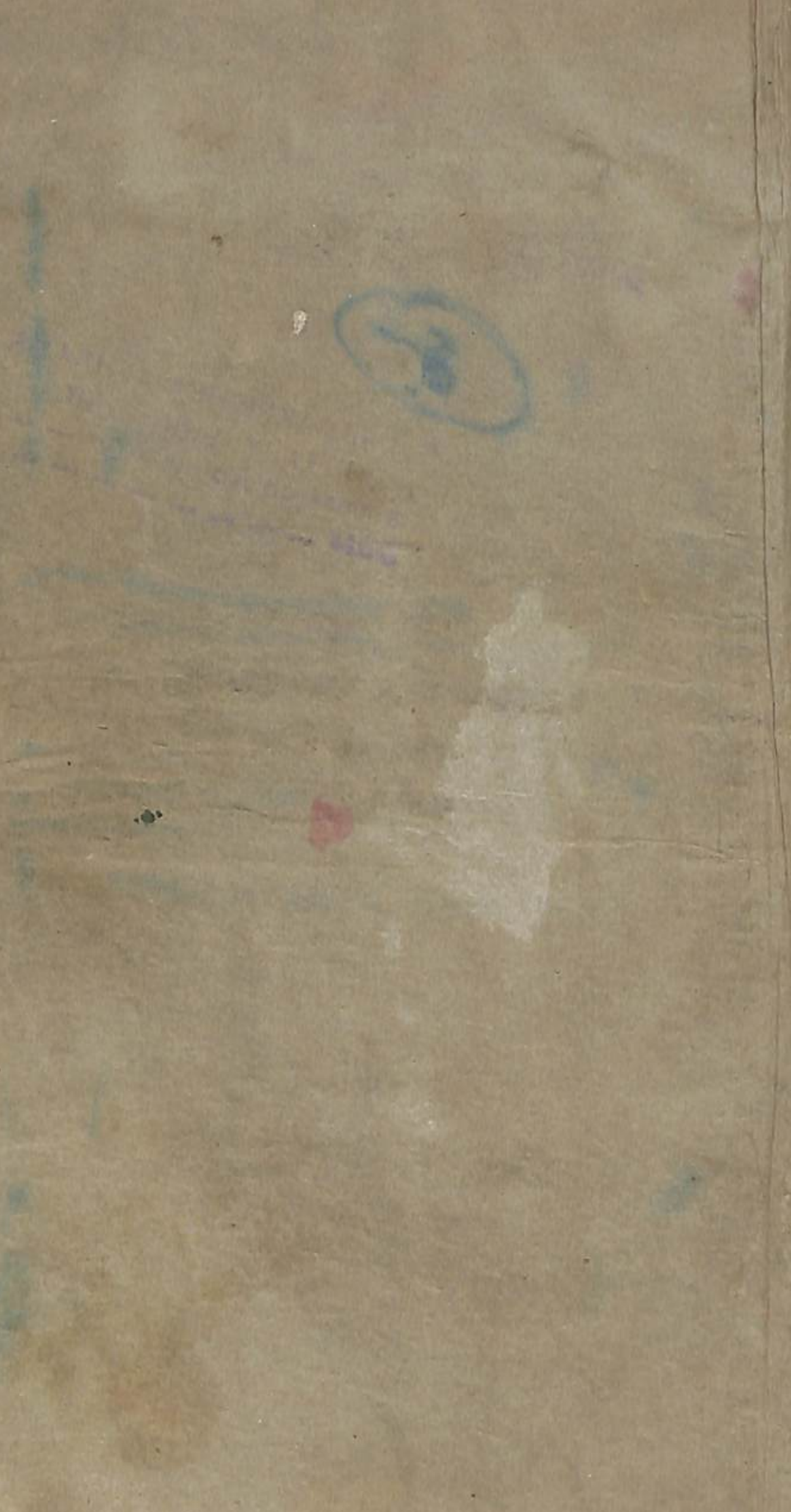
A Text-book prescribed for Intermediate Examination of East Panjab University for 1949

संस्कृत-काव्य-लहरी

Omitting pages 52—65, भगवद्गीतायाम् देवासुर सम्पद्विभागयोगः, श्रद्धात्रयविभागयोगः, उपसंहारश्च

मूल्य [illegible]

संसारचंद्र एम. [illegible]



ॐ

संस्कृत-काव्य-लहरी

सम्पादक तथा संग्रहकर्त्ता

प्रोफेसर संसार चंद्र एम. ए.,

सनातन धर्म कालेज
अम्बाला (कैंट)

प्रकाशक—

मेहर चंद्र लछ्मण दास

संस्कृत–हिंदी–पुस्तक–विक्रेता
गली नन्हेखां, कूचा चेलां
दरिया गंज, दिल्ली

१९४८] [प्रथमावृत्ति

हारिक और सामाजिक जीवन पर अनादिकाल से अनुराग रहा है। संस्कृत-प्रचार भारत से बाहर मलय-द्वीप, यवद्वीप, स्वर्णद्वीप, तिब्बत, चीन, आदि देशों और फ्रांसी हिन्दी-चीन तथा प्राचीन चम्पा उपनिवेश में रहा है। स्याम में अभी तक राज्याभिषेक के समय टूटीफूटी संस्कृत में ही मन्त्र पढ़े जाते हैं।

वैद्य लोगों का आयुर्वेद संस्कृत में ही तो है। कितने ही दीनदुखियों के स्वास्थ्य और सुख का साधन संस्कृत भाषा ही तो बनी है। संस्कृत का जीवित साहित्य आज भी विद्यमान है। इस जीवन का प्रत्यक्षप्रमाण मिलता है। जीवन का नाम वृद्धि है, मृत्यु का नाम ह्रास है। यूरोप में जब से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ हुआ तब से उन देशों में भाषा-शास्त्र का विमर्श और विवेचन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने भी यास्कमुनि और पाणिनि-पतञ्जलि आदि आचार्यों से वे भाषा-तत्त्व सीखे जो केवल संस्कृत द्वारा ही सीखे जा सकते थे। भाषाविज्ञान तथा शास्त्र में तारतम्य दृष्टि के उद्बोधन करने का श्रेय केवल संस्कृत को ही प्राप्त हो सकता है।

यह कहना भी भ्रान्ति ही है कि संस्कृत बोली नहीं जाती थी और इस का प्रचार केवल ग्रन्थों तक ही था। रामायण और महाभारत काल में संस्कृत ही बोलचाल की भाषा थी। इस के प्रमाण पदपद पर मिलते हैं। हनुमान् जब पहले पहले श्रीरामचन्द्र को मिलते हैं तब संस्कृत में ही वार्तालाप करते हैं। सीता को सन्देश देते समय हनुमान् संस्कृत का आश्रय लेते हैं। श्री वाल्मीकि लिखते हैं कि जब हनुमान अपनी बात समाप्त कर चुके तब श्रीराम बोले—

"सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्॥"
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्। किष्किन्धा काण्ड। ३–२९

इससे जान पड़ता है कि राम के जाने से पूर्व ही दक्षिण में संस्कृत भाषा बोली जाती थी। सीता-सन्देश के समय भी हनुमान् जी ने सोचा—

वाचं चोपाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ॥
सुन्दर काण्ड ॥ ३० ॥ १७ ॥

यास्क और पाणिनि के ग्रन्थों से प्रत्यक्ष पता चलता है कि संस्कृत बोली जाती थी। इसी लिए उन्हों ने इसका नाम 'भाषा' या 'लौकिक' रक्खा है। शिष्ट वर्ग की भाषा संस्कृत थी। हर्षवर्धन के समय तक राजभाषा भी यही थी।

भारतीय इतिहास के ज्ञान के लिये, पुरातत्त्व की गवेषणा के लिये, भारत के प्राचीन जीवन की जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये संस्कृत साहित्य का

अध्ययन अत्यावश्यक है। जीवन के चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से धर्म और मोक्ष साधन के लिए संस्कृत अनिवार्य है। भले ही हम अर्थ और काम के लिए अन्य आश्रय का अवलम्बन करलें। इस वैज्ञानिक युग के आध्यात्मिक अन्धकार में यदि कहीं से रक्षा का आलोक मानवसंसार को प्राप्त हो सकता है तो वह संस्कृत-साहित्य से ही मिल सकता है। वैज्ञानिक वातावरण में वेदान्त का समावेश जब तक न होगा तब तक संसार में शान्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं होगा। विज्ञान और साहित्य में यह मेल तभी सम्पन्न हो सकता है जब संस्कृत वाङ्मय के अमररत्न शिक्षा-विधि में रक्खे जायें और उन से आत्मा की-अमरता, एकता में अनेकता, अनेकता में एकता तथा 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' का ज्ञान लोगों को हो। यह पावन सन्देश संस्कृत ही प्रदान कर सकती है, यह क्षमता केवल संस्कृत में ही है, यह हम बड़े दावे से कह सकते हैं। इस बात का प्रमाण यूरोपीय विद्वान् अपने लेखों और पुस्तकों द्वारा पर्याप्त रूप में दे चुके हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य भारत के बुद्धिवैभव का उच्चतम परिणाम हैं और इस बात का प्रमाण भी है कि यदि भारतीय विकास का परम रमणीय उदाहरण देखना हो तो 'संस्कृत' देखिये। हमारी साधना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यदि आपको देखना हो तो देवनागरी वर्ण-माला ही देखिये। यह वह मणि-माला है जिस के साथ की माला संसार की किसी भी भाषा के पास नहीं है। इसे पढ़ कर यह आश्चर्य होता है कि वह कैसा मस्तिष्क रहा होगा जिस से इस सुकर क्रम का प्रकाश हुआ होगा। इस वर्ण-माला के वेष में साहियिकों ने, दार्शनिकों ने, आचार्यों ने, शास्त्र-कारों ने, ऋषियों ने, मनीषियों ने और मुनियों ने सरस्वती का अक्षय्य भण्डार भर कर हमारे सामने रख दिया है जो जाति की अक्षय्य सम्पत्ति है और जो हमारा जीवनाधार है। यदि संस्कृत है तो भारत है, यदि संस्कृत नहीं तो भारत कुछ नहीं। भूत और भविष्यत् के अन्तर को ही तो वर्तमान कहते हैं। भूत की भित्ति पर वर्तमान बनता है। भारत का भविष्य बड़े ऐश्वर्य का संकेत कर रहा है। यह तब तक न होगा जब तक हम जातीय जीवन में अपनी चिरन्तन साधना के संचय को पुनः न अपना लेंगे। रामायण और महाभारत की अनश्वर निधि हमारे जातीय गौरव का अद्वितीय प्रतीक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का निःस्वार्थ जीवन, सती सीता का पातिव्रत्य तथा योगिराज श्री कृष्ण का गीतामृत रूपी सन्देश मृत जाति को भी पुनरुज्जीवित करने का बल रखते हैं। केवल इन के अध्ययन और उचित रीति से अध्यापन की आवश्यकता है। रामायण से सुन्दर काण्ड, महाभारत में से श्रीमद्भगवद्गीता, कवियों में कालिदास; अश्वघोष और विविध पद्यसंग्रह में

भर्तृहरि आदि लेखकों के ग्रन्थों से उद्धरण इस संग्रह में लिये हैं। रामायण की अमर कहानी, कृष्ण की अमृतवाणी और कालिदास की माधुरी जिस के कानों पड़गयी उसे संस्कृत काव्यामृत का रस प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता, यह हमारी दृढ़ धारणा है।

संस्कृत साहित्य दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम वह जो वैदिक भाषा में है और दूसरा वह जो लौकिक भाषा में है। इस संग्रह का श्रीगणेश रामायण से किया गया है। क्योंकि वैदिक साहित्य के अनन्तर प्रथम स्थान महाकवि वाल्मीकि को ही दिया गया है।

२. वाल्मीकि रामायण

संस्कृत साहित्य की विभूतियों में रामायण एक अनुपम रत्न है। यह वह ग्रन्थ है जिसे आदि काव्य होने का गौरव प्राप्त है। संस्कृत-साहित्य के अनेकों लेखकों के लिये यह ग्रन्थ चिरकाल तक उपजीव्य बना रहा है। कालिदास भवभूति आदि प्रमुख कवियों ने आदि-काव्य के अनुशीलन से ही स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्राप्त कर काव्य-मय रचना की थी। अनेकों काव्य तथा नाटक रामायण के कथानकों के आधार पर लिखे गये हैं जिन में सब से प्रमुख रघुवंश तथा भास-भवभूति के नाटक हैं। अनेक कवियों के लिये रामायण ने पथप्रदर्शन का कार्य किया है।

भारतवर्ष में रामायण का प्रचार चिरकाल से रहा है। पर इस युग में रामलीला और रामायण की कथा का स्थान 'सिनेमा' तथा 'रेडियो' ने ले लिया है। फिर भी चित्रपट पर 'रामराज्य' और 'भरत मिलाप' जैसे दृश्य और रामायण की कथा वार्ता रामायण की उस श्लोकबद्ध उक्ति को प्रमाणित करते हैं जो हमें रामायण के दूसरे ही सर्ग में मिलती है :—

"यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥"

क्या सचमुच ही रामायण का ऐसा महत्त्व है कि उसका पठन-पाठन तथा दर्शन किसी न किसी रूप में भारतीय जनता के लिए अनिवार्य समझा जाता है ? इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसके कारण हैं—

रामायण और भारतीय सभ्यता एक दूसरे के प्रतीक हैं। भारतीय सभ्यता का जहां कहीं प्रचार हुआ, वहां वाल्मीकि रामायण का प्रभाव विशेष था। हिन्दु समाज की संस्कृति की नींव गृहस्थ धर्म है। चाहे यह मूलाधार शिला

इस तथाकथित (Socalled) वैज्ञानिक युग में छिन्नभिन्न होती जा रही है पर फिर भी लोगों की दृष्टि मर्यादापुरुषोत्तम राम की ओर पड़े बिना नहीं रह सकती । आर्य वीर राम और आर्या सती सीता भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व अनन्तकाल तक करते रहेंगे । राम आदर्श वीर हुए हैं । इस बात का उल्लेख वाल्मीकि ने बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में ही बड़ी ओजस्विनी भाषा में किया है ।

तप में निरत वालमीकि मुनि के पास नारद जी ने राम के गुण और स्वभाव का वह चित्र खींचा है, जिस को उद्धृत किये बिना राम के दर्शन नहीं हो सकते । मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र चित्रण वाल्मीकि ने इन शब्दों में किया है ।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान्वशी ॥ १ ॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महान्हनुः ॥ २ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ ३ ॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः ॥ ४ ॥
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः
यशस्वी ज्ञान-सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ ५ ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ ६ ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता
वेदवेदाङ्ग-तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ ७ ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः मतिमान् प्रतिभानवान्
सर्वलोकप्रियः साधु-रदीनात्मा विचक्षणः ॥ ८ ॥
सर्वदाभिमतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्व - समश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ ९ ॥

इस प्रकार नारदमुनि ने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक संक्षेप से राम-कथा वाल्मीकि को सुनाई । तदनन्तर मुनिवर वाल्मीकि तमसा नदी के तीर पर भ्रमण कर रहे थे कि उन्होंने एक व्याध से विद्ध क्रौञ्च को देखा और उसके लिये विलाप करने वाली क्रौञ्ची का करुण शब्द सुना इस घटना के गहरे प्रभाव से आविष्ट होकर उनके मुख से वे शब्द निकले जिनमें हृदय-वेदना स्वतः प्रस्फु-

टित हो रही थी। क्रौञ्च की करुण कहानी से द्रवित होकर रामचरित की वेदनामयी कथा को सीता-वन-वास से सीता-वन-त्याग तक कह सुनाया। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब मनुष्य का चेतना प्रवाह क्या क्या कुछ कर दिखाता है। अर्जुन को वेदना हुई, भगवान् श्रीकृष्ण को गीतामृत का सञ्चार करना पड़ा। भगवान् गौतम को वेदना हुई तब बौद्ध विचारों की सृष्टि हुई। इधर वाल्मीकि की वेदना ने संसार के शोक को श्लोकमय कर दिया। ऐसा महाकाव्य रचा जिस की तुलना संसारभर का कोई महाकाव्य नहीं कर सकता। रामकथा की रमणीयता, वाल्मीकि की भावुकता, उनकी शैली की तन्मयता भाषा की सरसता भावों की गम्भीरता एवं स्वाभाविकता और वार्तालाप की यथार्थता तथा सबलता इस ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति से टपकती है। यही महत्ता थी जिस के कारण वाल्मीकि के जीवन-काल से ही इस अनुपम ग्रन्थ-रत्न का प्रचार हो चला था। श्रीराम ने स्वयं इस का गायन सुना। ऐसे लेखक विरले ही होते हैं जिन की रचना का सम्मान उनके जीवन काल में ही इतना होता हो जितना कि वाल्मीकि की कृति का उन के जीवन काल में हुआ है। रामायण-माधुरी का आस्वादन वाल्मीकि की प्रत्येक पंक्ति से होता है।

गौतमबुद्ध से पहले ही रामायण का निर्माण हो चुका था। वाल्मीकि रामायण की आधुनिक प्रति में २४००० श्लोक मिलते हैं। इसके तीन संस्करण प्रचलित हैं—बम्बई, बङ्गीय और काश्मीरी। इस आदि काव्य के निर्माता कहां रहते थे? उनका कौन सा समय है? उन्होंने क्या २ लिखा? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर इदमित्थं रूप में नहीं दिया जा सकता। संस्कृत का प्राचीनतम साहित्य प्रायः देश की नीति और सम्पत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। लेखक अपना नाम पता बताते सकुचाते हैं। उस समय 'सर्वाधिकार सुरक्षित रखने की प्रथा नहीं थी। कौन ग्राम कौन स्थान, पूछने का प्रचार न था। विश्वकल्याण के लिए सर्व सामान्य जनसमुदाय के हित के लिये ग्रन्थ रचे जाते थे। वह साहित्य क्षेत्र में व्यापार का युग न था। विश्वजनीन प्रेम, सद्भाव और हितबुद्धि साहित्य का सन्देश समझा जाता था।

कालिदासादि महाकवियों ने वाल्मीकि के सम्बन्ध में यूं कहा है। सीता वनत्याग का वर्णन करते हुए रघुवंश १४-७० में लिखा है—

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

इसी श्लोक का उद्गार वाल्मीकि ने इस पद्य में किया था—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

मानवीय शोक का सागर वाल्मीकि के हृदय में उमड़ पड़ा और उस आवेश से उन की कोमल वेदना सारस्वत सन्दोह में फूट पड़ी । आदर्श जीवन का लक्षण जैसा वाल्मीकि ने अङ्कित किया है वैसा किसी और से नहीं हो सका। करुण काव्य कथा यह राम की ही नहीं प्रत्येक जीवमात्र की है । तभी तो इतनी सहानुभूति, इतनी सम-वेदना इस कथा से जागृत होती है । यही तो रामायण की लोक-प्रियता का रहस्य है । वाल्मीकि का हृदय कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर था। जिस मर्मस्पर्शी हृदय से सीतावनवास लिखा उसी वज्रसम कठोर मन से सीतावनत्याग और सीतान्तर्धान अङ्कित किया है । पाठक रामायण पढ़ता हुआ नतमस्तक होकर कहता है—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

गार्हस्थ्यप्रधान हिन्दूसमाज का जो कुछ धर्म है वाल्मीकि ने श्रीरामचन्द्र जी को उसी का आदर्श प्रतिनिधि बना कर दिखाया है । पुत्र रूप में, भ्रातृरूप में, पतिरूप में, मित्ररूप में ब्राह्मणधर्म के रक्षक के रूप में, और अन्त में राजा के रूप में वाल्मीकि के राम ने अपनी लोकपूज्यता को प्रमाणित कर दिया है । उन्होंने एक मात्र अपनी धर्म-पत्नी के उद्धार के लिये ही रावण को मारा और प्रजारञ्जन के अनुरोध के कारण ही उन्होंने अन्त में अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया । वाल्मीकि रामायण में (Supernatural) अतिमानव अंश है पर थोड़ा । इतना नहीं जितना लोक-प्रसिद्ध तुलसी-कृत रामायण–रामचरितमानस में । भगवद्भक्ति की लहर तुलसी में उमड़ आई है जिससे राम नरदेव हो गये हैं और अति-मानुषी लीला के प्रधान नायक बन गये हैं ।

वाल्मीकि रामायण में सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड, लङ्का काण्ड, उत्तर काण्ड। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह महाकाव्य अद्वितीय है । भाषा प्रसादगुणयुक्त तथा भाव सरस एवं मनोरम हैं । श्लोकों की भाषा सरल है और मन को वशीकरण का एकमात्र मन्त्र है । इन में वह रस है जो पत्थर को भी पिघला दे। इस महाकाव्य में आदर्श नर नारी, पतिव्रता नारी और पत्नी-व्रत नर की करुण कहानी का क्रन्दन ही ध्येय प्रतीत होता है, वास्तव में मनुष्य के नश्वर जीवन की रुलाने वाली कहानी है ।

रामायणमाधुरी और उसकी रमणीयता प्रत्येक पद से टपकती है। चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि ने अद्भुत काव्य-सृष्टि की है। महावीर हनुमान जैसा सेवक, लक्ष्मण सा भक्त और भरत सा त्यागी किसी विरले ही साहित्य में मिलेंगे। सीता का पवित्र आदर्श भारतीय नारी जीवन में उस प्राणसंचारी प्रेम का उद्बोधन करता आया है जिस से असंख्य महिलाओं का मूक प्रेम-स्रोत सच्चे आदर्श की ओर अनवरत बहता आरहा है।

रामायण में मानवस्वभाव का विश्लेषण, हृदय की भावनाओं का उतार चढ़ाव, उन का उद्रेक और उद्वेग बड़ी ही मार्मिक भाषा में चित्रित किये गये हैं।

कालिदास अपनी उपमाओं के लिए, प्रकृतिवर्णन के लिये मनुष्य का हृदय टटोलने के लिये, चरित्र-चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं पर यह शिक्षा उन्हें कहां से मिली ? यह कला उन्होंने वाल्मीकि से सीखी। उन के वर्णन का अनुकरण संस्कृत के कई महाकवियों ने किया पर वे वाल्मीकि की कोटि तक नहीं पहुंच सके।

साहित्यिक सौन्दर्य के कारण, आशालता को पुनरुज्जीवित करने वाले सीता-सन्देश के कारण सुन्दर काण्ड को अन्वर्थक ही माना गया है। वास्तव में यह काण्ड सुन्दर ही है। इस में वाल्मीकि ने अपनी कमनीय कल्पनाओं का कान्तपदावलि में, उज्ज्वल उपमाओं और उदात्त उत्प्रेक्षाओं द्वारा विशदवर्णन किया है और अपनी काव्य कला का पूर्ण परिचय दिया है।

हमने इस काव्य-संग्रह में सुन्दर काण्ड से सार लिया है और इस में महावीर-पराक्रम, समुद्रलङ्घन, लङ्का-प्राप्ति, पुष्पक-वर्णन, सीता दर्शन, सीता-परिताप हनुमद्विषाद, सीता सन्देश प्रकरणों से सार लेकर वाल्मीकि के शब्दों में ही संक्षिप्त कर दिया है, जिस से कोमलमति सुकुमार पाठकों की रुचि वाल्मीकि रामायण की ओर प्रवृत्त हो और हमारी पुनीत परम्परागत मानसिक सम्पत्ति हमारे हृदय में स्थान बनाए रखे। सीता के सुन्दर वाक्य क्या ही आशा को अङ्कुरित करते हैं—

कल्याणी वत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष-शतादपि॥

महाभारत

वाल्मीकि के अनन्तर व्यास का नाम लिया जाता है। यदि वाल्मीकि आदि कवि हैं तो व्यास विश्व कोष के रचयिता। क्योंकि व्यास महाराज की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महाभारत वह ग्रन्थ है जिस में पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का परिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। वह लिखते हैं—

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत में एक लाख श्लोक हैं। इसी लिये इस को शतसाहस्री-संहिता कहते हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ में काव्य की अपेक्षा ऐतिहासिक अंश अधिक होने के कारण इसे महाकाव्य न कहकर इतिहास कहा गया है। इस महाकाय ग्रन्थ का विकास तीन रूपों में हुआ प्रतीत होता है। इस का मौलिक रूप 'जय' नामक था जो तदनन्तर 'भारत' और 'महाभारत' के नाम से विख्यात हुआ। महाभारत के अठारह पर्व हैं। भीष्म-पर्व के प्रारम्भ में ऐसी घटना का वर्णन है जो हृदय में उथल पुथल मचाने वाली है।

संग्राम छिड़ने वाला है। सब तैय्यारियां हो चुकी हैं। वीर महारथी अपने २ स्थान पर वस्त्र कवच धारण किये सन्नद्ध बैठे हैं। यहां तक कि लड़ाई का मारू बाजा भी बज चुका। शङ्ख नाद हो चुका। तीर कमान से छूटना ही चाहते थे कि अकस्मात् वीर अर्जुन पर उदासी छा गई। उस के निर्भय मन में वह मोह छागया जिससे हतोत्साह होकर शोक में डूबा हुआ वह सोचने लगा कि लड़ना पाप है। यह नहीं कि वह पहले कभी लड़ा न हो या कौरवों से पहले उस की मुठभेड़ न हुई हो। कई बार उसने शत्रुओं का संहार किया था। लड़ाई में कभी पीठ न दिखाई थी। मानव-हृदय की चाल निराली है। कोई अनुपम मुहूर्त ऐसा आजाता है जो जीवन-स्रोत की दिशा को ही बदल देता है। इतिहास में ऐसी घटनाओं की गिनती करना कोई कठिन कार्य नहीं। हम अपने जीवन में भी यह अनुभव करते हैं।

ऐसे (Psychological moment) मनोवैज्ञानिक क्षण में अर्जुन के हृदय ने पलटा खाया। श्री कृष्ण जिसके सारथी हों उसे हार-जीत से डर! पर वह श्री कृष्ण के समझाने पर भी कह बैठा।

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।

जब कोई ऐसा दुराग्रह करले कि जाओ मैं काम नहीं करता तब ऐसे हठी को कार्य में प्रवृत्त करने के लिए ज़ोर लगाना पड़ता है। बलात्कार किया तो क्या किया, वह तो पाशविक व्यवहार है। जो कर्म-प्रवृत्ति हृदय से जागती है वही सच्ची प्रेरणा होती है। पर उस प्रवृत्ति का जमाना विना किसी योगिराज के नहीं हो सकता। कर्तव्यपरायणता रूपी योग का उपदेश भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिया जो उपदेश केवल अर्जुन के लिये ही नहीं था अपितु मनुष्यमात्र के लिए विश्वव्यापी सर्वकल्याणकारी आदेश था जिसका प्रचार आज का युग-धर्म बन गया है। यह उसी उपदेश का फल था कि क्षात्र-धर्म को भूला हुआ अर्जुन

ठीक रास्ते पर आगया। (यह संसार अपने आप को भूला हुआ है। गीताध्ययन से हमारी दृढ़ धारणा होती जाती है कि गीता के संदुपदेश से मनुष्यमात्र का कल्याण होगा।) गीतोपदेश की समाप्ति पर वही मोहग्रस्त अर्जुन जो रथ पर धनुषवाण छोड़ कर हतोत्साह हुआ बैठा था, विनम्रभाव से श्रीकृष्ण से कहने लगा–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा···करिष्ये वचनं तव।

गीता समाप्ति के अनन्तर भीष्मपर्व के ४३वें अध्याय में सञ्जय कहते हैं–

ततो धनञ्जयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः॥

भीष्म पर्व॥ ४३॥ ६॥

गीतामाहात्म्य का उत्तम उदाहरण इस से दूसरा क्या हो सकता है?

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के मध्य में आती है। भीष्मपर्व के पच्चीसवे अध्याय से आरम्भ हो कर बयालीसवें पर यह भगवद्गीत समाप्त होता है। यह देदीप्यमान निर्मल हीरा, भारत का गौरव-ग्रन्थ, ईश्वरीय संगीत सुनानेवाला तथा अमर सन्देश देने वाला है। जो सुनेगा और उस पर आचरण करेगा वही अमृतपद को प्राप्त करेगा।

साहित्य के अनमोल रत्न गीता के अठारह अध्याय हैं। हमने इस संग्रह में गीतासार दिया है। गीता के ७०० सौ श्लोकों का सार गीता के अपने शब्दों—श्लोकों में दिया है। जिन पाठकों के लिए यह संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है, उनकी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए हम ने गूढ दार्शनिक अंशों को छोड़ कर गीता के सम्पूर्ण कर्मयोग के उपदेश को यहां रखा है। अर्जुनका विषाद और श्री कृष्ण का निष्काम कर्म करने का उपदेश भली भान्ति हृदयंगम कराने का प्रयास किया है। इस उपदेश को चरितार्थ करने के लिए कैसा आहार व्यवहार होना चाहिए, इसका भी उल्लेख दिग्दर्शनार्थ किया है। इस से हमारे युगधर्म के प्रवर्तक नवयुवक व्यास-प्रसाद को ग्रहण कर जीवन को सफल बना सकेंगे। कठिन से कठिन विषय का सरल से सरल भाषा में प्रतिपादन गीता से भिन्न और किसी पुस्तक में नहीं हुआ। इस संग्रह में भाषा और भाव दोनों की सरलता और सरसता पर विशेष ध्यान रखा गया है।

गीतामृत

गीता में हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रमुख विचार अत्यंत सुन्दर और सरल भाषा में वर्णन किये गये हैं। यह ग्रन्थ भारतीय प्रतिभा का सार है। इस की महत्ता का इस से बढ़ कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि

इस ग्रन्थरत्न का अनुवाद संसार की प्रायः सभी सभ्य भाषाओं में हो गया है संसार के कोने कोने में गीता के प्रशंसक विद्यमान हैं जिन के जीवन इस अद्भुत ग्रन्थ की शिक्षा के अनुचरण से विकास को प्राप्त हो रहे हैं।

इस गौरवमय रचना में ज्ञान-कर्म और भक्तिका अत्यन्त सन्तोष जनक मेल कर दिया गया है। आत्मा की अमरता परमात्मा की सर्वव्यापकता समस्त स्थावर और जङ्गम जगत् की इसी महाशक्ति में विद्यमानता विभूतियों का वर्णन और ग्यारहवें अध्याय में सारे ब्रह्माण्ड को पुरुष-ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करना इत्यादि सब बातों को गीता का ज्ञान-काण्ड कहना चाहिये। इस ज्ञान से इस बात का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है कि सब घटनाएं परमात्मा की शक्ति और इच्छा से हो रही हैं तथा मनुष्य की अल्पज्ञता और अज्ञान ही उसके दुःख का कारण हैं। बारहवें अध्याय में भक्ति के लक्षण बड़े सुन्दर रूप में कहे गये हैं। गीता में ज्ञान ने भक्ति का रूप धारण किया है। जब परमात्मा की विद्यमानता और उसकी सर्वशक्तिमत्ता का भान हो गया तब उसको सब कुछ अर्पण किये विना और कोई चारा नहीं रहता।

ज्ञान और भक्ति के साथ कर्म का अत्युत्तम मेल कर दिया गया है। तीसरे अध्याय में यह बता दिया गया है कि कर्म के विना एक क्षण के लिए भी कोई प्राणी नहीं रह सकता। इस लिये कर्म किस प्रकार करना चाहिये यह रहस्य गीता हमारे सामने स्पष्ट करके रखती है। कर्म का रहस्य यही है कि हमारे कर्म निष्काम हों। निष्काम कर्म का यह अर्थ नहीं कि हमारे कर्म विना प्रयोजन के होने चाहियें प्रत्युत इस का अर्थ यह है कि जिस अवसर पर जो कार्य करना उचित और आवश्यक है उसको अवश्य करना चाहिये। उसके करने में और किसी बात से प्रभावित नहीं होना चाहिये।

मैं क्या करना चाहता हूँ और मुझे क्या करना चाहिये, इन दोनों बातों में कई बार अन्तर पड़ जाता है और एक समस्या सी खड़ा हो जाती है। ऐसी अवस्था में 'मुझे क्या करना चाहिये' इसी बात को अपने सम्मुख रखना आवश्यक है। अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता भगवान् श्रीकृष्ण उसे यही ज्ञान देते हैं कि इस समय युद्ध करना (Obligatory) कर्तव्यानुरोध है। इच्छा का होना या न होना तो इस बात का निर्णय नहीं कर सकता कि किस अवसर पर कौन सा कर्म आवश्यक है। इसी कर्म करने की कुशलता को भगवान् श्रीकृष्ण ने योग के नाम से पुकारा है 'योगः कर्मसु कौशलम्'। इस योग में मनुष्य को सुख-दुःख हानि-लाभ, मान-अपमान, सफलता-असफलता, जय-पराजय को देखना नहीं होता प्रत्युत शुद्ध हृदय से अपने कर्तव्य कर्मों का पालन करना होता है।

सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत् का वर्णन करके नैतिक जीवन का बहुत ही अच्छा विवेचन किया गया है। बात यह है कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने पूर्ण जीवन का चित्र खींच कर रख दिया है और उस में सारे रङ्ग इस प्रकार भर दिये हैं कि उनके बाहिर कुछ रह नहीं जाता।

गीता पर विशाल साहित्य की सृष्टि होती आरही है। पता नहीं यह अनुपम ग्रन्थ कब महाभारत से पृथक् रूप में सङ्कलित किया गया। गीता पढ़ते समय लोग प्राय: यह नहीं समझते कि वे महाभारत ही पढ़ रहे हैं। इस का अपना व्यक्तिगत अस्तित्व है जो मुक्ताहार में मध्यमणि के सदृश सारे महाभारत को उद्दीप्त कर रहा है।

इस ज्ञान-निधि ग्रन्थ पर असंख्य भाष्य, अनेक प्रवचन, अगणित टीकाएँ लिखी गई हैं और इस के अगण्य अनुवाद हो चुके हैं और इतने गवेषणात्मक निबन्ध लिखे जा चुके हैं कि पुस्तकालय में गीता साहित्य का एक पृथक् विभाग बन सकता है। संस्कृत में शङ्कर प्रभृति अनेक आचार्यों ने इस पर अपने विचार लिखे हैं। लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य', गान्धी का 'अनासक्ति-योग' और अरविन्द के Essays on Gita इस प्रसिद्ध ग्रन्थ पर प्रमुख विवेचन हैं।

यह उपनिषदों का सारभूत ग्रन्थ अल्पमति बालकों के लिए भाव-दृष्टि से दुरूह है परन्तु भाषा की दृष्टि से सरल और सुबोध है। इस पुस्तक में जो काव्य-गुण हैं उनका परिचय विशेष रूप में ११ वें अध्याय से मिलता है। यूं तो समस्त गीता ही सर्व प्रिय काव्य है पर ग्यारहवें अध्याय में भगवत्स्तुति की अनोखी झलक झलकती है। गीता नित्य नवीन तथा रस पूर्ण है। किसी श्लोक को पढ़ो, किसी स्थल का मनन करो सर्वत्र रस मिलेगा, नीरसता का तो कहीं नाम नहीं।

श्रीमद्भगवद्गीता धर्म ग्रन्थों में मुकुट-मणि है। काव्य की शक्ति का अनोखा उदाहरण है। गीता का उपदेश "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" से प्रारम्भ होकर "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" पर समाप्त होता है। इस उपदेश को सुन कर अर्जुन फिर से चापधारी हो कर लड़ने के लिए सन्नद्ध हो गया था, कर्तव्य-परायण बनने के लिए ही तो सद्बुद्धि का उपदेश समाप्त हुआ तब अर्जुन को युद्ध के लिए सन्नद्ध पाया। अतः गीता हमें यही सिखाती है कि हम भी वही करें जो अर्जुन ने किया। जगत् की समस्याओं को सुलझाने में अपने को असमर्थ दिखा कर जंगल की राह न लें अपितु जीवन संग्राम में वीर योद्धा की तरह भाग लें और अपने कर्तव्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते', का पालन करें। साहित्य में सञ्जीवनौषधि का काम करने वाली मरों को जिलाने वाली यदि कोई पुस्तक है तो वह गीता है, जिसके

अध्ययन से 'मृतो मानुषतां व्रजेत्'—मरा हुआ भी जी उठता है; हतोत्साह भी कार्यपरायण हो जाता है।

गीता की भाषा की सरलता हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इसमें न तो थकाने वाले लम्बे २ समास हैं, न छन्दों की दुरूहता, न कठिन शब्दों का प्रयोग। जन-साधारण की भाषा में भगवान् ने अपनी मधुर वाणी सुनायी है। भाषा सरल है, भाव गम्भीर। भाव इतने गम्भीर हैं कि जितना भी मनन करो नित्य नवीन अर्थ प्राप्त होता है। गीता में समूचे जीवन की व्याख्या है। यह काव्यमय ग्रन्थ मानव समाज का सर्व शिरोमणि ग्रन्थ बनने के योग्य है।

वही अर्जुन जिसने कृष्ण के सारथित्व के विना ही राजा विराट् की नगरी में गोहरण के समय कौरवों को अकेले पराजित किया था, अब कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए तय्यार दोनों सेनाओं को देख कर उस के मन में पाप-शङ्का और दया-वृत्ति का एक साथ ही उदय हुआ। युद्ध से विरत होने का विचार करके उसने धनुषबाण रथ पर रख दिए और भगवान् से कहा—इस घोर पापरूपी युद्ध में प्रवृत्त होने की अब मेरी इच्छा नहीं। राज्य प्राप्त करने के लिए इन समस्त स्वजनों की हत्या करना मैं बड़ा भारी पाप समझ रहा हूं। इन सब का विनाश हो जाने पर मुझे कभी सुख नहीं मिल सकता। अतएव इस प्रकार राज्य प्राप्ति की अपेक्षा भीख मांग कर जीवन धारण करना मैं बहुत अच्छा समझता हूं। अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए और उसे कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए भगवान् ने इस कर्म-योग का उपदेश किया है। भगवद्गीता के अठारह अध्यायों में इस कर्म-योग शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है।

आत्मा की अमरता का उपदेश देते हुए भगवान् क्षात्र-धर्म की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि आततायियों को मारना क्षात्र-धर्म है, पाप नहीं स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। युद्ध-क्षेत्र से भागना क्लीवता है, अनार्य व्यवहार है। पहले तो पृथ्वी का साम्राज्य मिलेगा, स्वर्ग तो कहीं गया ही नहीं। उठो युद्ध में डट जाओ। इस स्वर्णावसर को हाथ से मत निकलने दो। जय-पराजय, हानि लाभ, सुख-दुःख का कोई विचार मत करो फलासक्ति को छोड़ो, ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करो। अनासक्ति-योग का आश्रय लो। कर्म करने का अधिकार तुम्हारा है, फल तुम्हारे आधीन नहीं। युद्ध का फल चाहे कुछ भी हो उस पर विचार न करो और इस स्वधर्म-कर्म में प्रवृत्त हो जाओ।

कर्म मार्ग की पुष्टि करते हुए भगवान् कहते हैं—अनासक्त-बुद्धि द्वारा कर्म करना योग कहलाता है। फल में आसक्ति को छोड़ कर कर्म में तत्पर

रहना ही संन्यास का सार है। कर्म का सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। शरीर धारण के लिए कर्म अनिवार्य है। जब कर्म करना ही पड़ता है तो योग युक्त कर्म ही क्यों न किया जाय। अनासक्त भाव से कर्म करने पर ही देही पाप का भागी नहीं होता। यह सत्य है कि मन चञ्चल है--अस्थिर है। इस को वश में करना हवा पर काबू पाने के सदृश कठिन कार्य है। परन्तु अनासक्ति के अभ्यास से मनुष्य मन पर विजय पा सकता है और मन स्थिर हो सकता है। इसी स्थित-प्रज्ञता के आधार पर मनुष्य कर्म-योग का साधन कर सकता है।

सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं तथा उन्हीं में जगत्प्रतिष्ठित है। इस बात का अनुभव न होना ही हमारे दुःखों और पापों का कारण है। सत्त्व, रज, तम गुणों द्वारा अभिव्यक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी उसी परमेश्वर की लीला है। इसी को माया कहते हैं। मनुष्य अनन्य भक्ति द्वारा ही मुझे प्राप्त कर सकता है और मेरी माया को समझ पाता है। तभी वह त्रिगुणातीत, स्थित-प्रज्ञ या भक्त कहा जा सकता है।

इस भक्ति का उदय मेरी विभूतियों और गुणों के चिन्तन से होता है भगवान् ने विभूतियों के वर्णन में कहा है कि सारे जगत् को अपनी विभूतियों के एक अंश मात्र से धारण किए मैं स्थित हूं। अर्जुन की जिज्ञासा बढ़ने पर उसे विश्वरूप दिखाया। अर्जुन ने भक्ति मुद्ध होकर भगवान् की स्तुति की, जिस में भक्ति काव्य की अनुपम धारा बही है। भगवद्दर्शन और भक्ति का ऐसा उदार तथा सरल वर्णन कदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिलेगा।

परमपिता परमेश्वर से ही सम्पूर्ण संसार प्रकट हुआ है। उसी को पुरुषोत्तम कहें चाहे ब्रह्म। सब जीव उसी के अंश-मात्र हैं।

दैवी और आसुरी सम्पद् का विभाग करते हुए भगवान् ने नैतिक जीवन की ओर संकेत किया है। सत्य-निष्ठ का आचार-विचार आहार-व्यवहार कैसा होना चाहिये जिस से कि योग साधन ठीक हो सके। यज्ञ, श्रद्धा, तप, त्याग और दान तथा सुख आदि कैसे होने चाहियें, इन सब पर विशदरूप से विवेचन किया गया है। अर्थात् योगी बनने के लिए जीवन-निर्वाह कैसा होना चाहिये इस का लक्षण सुचारु रूप में कहा गया है।

अन्त में भगवान् ने अपने अमर प्रवचन का उपसंहार करते हुए अठारहवें अध्याय में अर्जुन से यही कहा है कि फलाकाङ्क्षा को छोड़ कर अनासक्त चित्त से कर्म करता जा। इसी में तेरा अधिकार है. इसी में तेरी विजय है, यही नीति है, और इसी के करने से तुझे किसी प्रकार का पाप न लगेगा जिस

से तुझे डर लग रहा है। तू उठ और कर्तव्य-परायण बन। यही गीता का उपदेश है, इसी का अर्जुनने अनुसरण किया और यश तथा कीर्ति का पात्र बना।

रामायण और महाभारत पर एक तुलनात्मक दृष्टि

रामायण और महाभारत दोनों भारतवर्ष के प्राचीन महा-काव्य (Epics) हैं भारतीय जीवन पर इन दोनों महामान्य ग्रन्थों का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा है। क्या धर्म नीति, क्या साहित्य, सभी रामायण और महाभारत के विचारों से अनुप्राणित और जीवित हैं। यदि रामायण प्राचीन है तो महाभारत अर्वाचीन। रामायण काल की सभ्यता महाभारत काल की सभ्यता से अधिक सुसंस्कृत तथा शिष्ट प्रतीत होती है। सापेक्ष-दृष्टि से रामायण में शान्त व्यवस्था है। परन्तु महा-भारत की संस्कृति में क्रान्ति, विप्लव, संक्षोभ, विषमता और अव्यवस्था खटकती है। रामायण की श्लोक संख्या महाभारत की श्लोक संख्या से कहीं बहुत कम है। रामायण एक व्यक्ति की साधना का फल है। महाभारत के जय, भारत और महाभारत के उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होते हुए संस्करणों में कई ऋषि-मुनियों और कवियों की छाप दिखाई देती है। उक्त अन्तर दोनों महाकाव्यों की भाषा, भाव और शैली की तुलना से स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।

रामायण के नायक राम का चरित्र आदर्श रूप में अङ्कित है और प्रति-नायक का उस से सर्वथा विपरीत। महाभारत के कौरव-पाण्डवों का जीवन वास्तविक एवं साधारण है। उनमें गुण भी हैं, दोष भी हैं। रामायण में भ्रातृ-स्नेह तथा महाभारत में भ्रातृ-द्रोह क्या ही अच्छे अङ्कित हैं। रामायण केवल 'राम अयन' है अर्थात् राम के जीवन को आधार मान कर रचागया है किन्तु महाभारत विभिन्न प्रकार के व्यावहारिक चरित्रों का निचोड़ है। रामायण कहती है ऐसा होना चाहिये, महाभारत कहता है ऐसा होता है। तुलना की दृष्टि से यदि रामायण की संस्कृति धर्म-प्राण है तो महाभारत की कर्म-प्रधान। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की कर्मयोगी कृष्ण से तुलना कीजिए। रामायण में चप्पे २ पर धर्म की दुहाई सुनाई देती है परन्तु महाभारत में अहङ्कार-बुद्धि की प्रबलता है। अभिमान और दर्प पात्रों की रग २ में भरे हुए हैं। हाँ, इतना कहना न्यायो-चित होगा कि यदि महाभारत में राम जैसे आज्ञापालक और त्यागी, भरत जैसे भाई, हनुमान् जैसे भक्त और सीता सी पतिव्रता नहीं मिलती तो रामायण में भी भीष्म से ज्ञानी, कृष्ण से तत्त्व-दर्शी और द्रौपदी सी मनस्विनी दुर्लभ हैं।

राम का धर्ममय आचरण और युधिष्ठिर की द्यूत-प्रवृत्ति। भरत-लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम और कौरवपाण्डवों का भ्रातृ-द्रोह राम तथा भरत का राज्य को ठुकराना और दुर्योधन का राज्य-प्राप्ति के निमित्त घोर अनाचार आदि विपरीत

भाव इन दोनों महाकाव्यों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होते हैं तथा पाठक को विचार निमग्न बना देते हैं। रामायण के समय में शासन में प्रजा का हाथ पर्याप्त मात्रा में था ऐसा प्रतीत होता है किन्तु महाभारत काल की प्रजा कठोर शासन के सामने चूं तक नहीं कर सकती। दुर्योधन की आज्ञा का पालन भीष्म भी नतमस्तक हो मूकभाव से करते हैं। द्रौपदी की दुहाई कोई काम नहीं करती। उस पर अत्याचार और उसके अपमान के समय भीष्म भी ताकते ही रहते हैं। वही भीष्म जो शर-शय्या पर भी शान्ति-पर्व गा सकते हैं अपनी विवशता का कारण बताते हैं—'मैंने दुर्योधन का अन्न खाया है'। साम्राज्यवाद (Imperialism) का विरोध करना भीष्म को भी कठिन प्रतीत होता है। रामायण में सती सीता का पातिव्रत्य और राम का एक पत्नीव्रत, भलेही दशरथ की तीन पत्नियां थीं, महाभारत में सत्यवती और कुन्ती की कौमारावस्था में ही सन्तान लिप्सा, पाण्डवों के अनेक विवाह और द्रौपदी के पांच पति, ये सब वैवाहिक जीवन में भी दोनों संस्कृतियों का भेद दिखाते हैं।

युद्ध क्षेत्र में भी आदर्श विभिन्न हैं। राम शस्त्र-रहित शत्रु पर हाथ नहीं उठाते परन्तु महाभारत में शस्त्र रहित भीष्म तथा द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध और सोये हुए द्रौपदी-पुत्रों का वध होता है। सीता-हरण और द्रौपदीहरण की घटनाओं में आकाश पाताल का अन्तर है। महाभारत के नैतिक जीवन से रामायण का नैतिक जीवन (Moral life) बहुत ऊँचा है। महाभारत के समय विदेशी प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। विदुर विदेशी म्लेच्छ भाषा को जानते हैं। पुरोचन विदेशी है। वही लाक्षा गृह का निर्माण करता है। रामायण बौद्ध प्रभाव से सर्वथा असम्पृक्त है। महाभारत के आधुनिक रूप में बौद्ध-अवतार का उल्लेख मिलता है।

अन्य काव्य ग्रन्थ

संस्कृत में काव्य का लक्षण बड़ी सरल भाषा में लिखा गया है। इस से अधिक छोटा पर सारगर्भित लक्षण अन्य भाषा में मिलना कठिन है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। वाक्य ही काव्य बन जाता है, यदि उस में रस हो। रस क्या है? इसका स्पष्टी-करण भी सरल है। रस एक व्यापक परिभाषा है। कहने वाले की वाणी में रस है, इस लिए उस में कवित्व है। बस, इस से अधिक और क्या कहा जाय? चित्त का आह्लाद, मन की तृप्ति, इन्द्रिय-जन्य सन्तोष, आध्यात्मिक निर्वृति ये सब रस के अन्तर्गत हैं। सारी (Emotional Life) भावुकता रस-वाचक है। रसीली उक्ति, बांकी वचनावली, सिर को हिलाने वाली वाङ्माधुरी, कवित्त्व शक्ति के अन्तर्गत हैं।

संस्कृत साहित्य का आदिम ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है, उसमें प्रगति है, नैसर्गिक प्रवाह है, कला है, रस है, सौन्दर्य है और है वह सत्य तथा शिव। इसी लिये वाल्मीकि आदि कवि अर्थात् कविशिरोमणि है। उसका काव्य महा-काव्यों में आदि काव्य अर्थात् सर्व-प्रथम काव्य है। ऐसे काव्य को Epic कहते हैं जिस में Action घटना की प्रधानता हो। इस में प्राकृतिक वर्णन भी है; गीति काव्य की मनोहरता भी है; पर है विशेषत: घटना-प्रधान। आर्य संस्कृति सम्पूर्ण भारत में फैल रही थी; शान्ति का साम्राज्य अभी पूर्णतया स्थापित नहीं हुआ था; दुराचारी राक्षस न केवल दक्षिण में ही मिलते थे अपितु मथुरा में विद्रोह शान्ति के लिये शत्रुघ्न को भी जाना पड़ा था। ठीक इसी काल का वर्णन रामायण में मिलता है। साम्राज्य-वाद तथा वर्णाश्रम व्यवस्था ज़ोरों पर थी। महाभारत में समय-परिवर्तन दिखाई देता है। वैसे भी महाभारत में इतिहास की अधिकता है।

महाभारत के उपरान्त जो सिद्धान्त दृष्टिगोचर हुए उन में सर्व प्रमुख बौद्ध-सिद्धान्त हैं। यही काल तथाकथित (Socalled) ऐतिहासिक काल में हमारा पदार्पण कराता है। समय बड़ा लम्बा है। बौद्ध-काल के संस्कृत साहित्य का प्रतिनिधि कवि अश्वघोष है। रामायण और महाभारत के उपरान्त अश्वघोष के काव्यों का उल्लेख अनिवार्य है। बौद्ध-काल ऐतिहासिक काल है जिसमें भारतीय संस्कृति का विकास हुआ—भारत से बाहिर उसका सन्देश सुनाया गया रामायण-महाभारत के पीछे और अश्वघोष के पहिले के काव्य अब सुनाई नहीं देते। अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ के सामने सामान्य योग्यता के ग्रन्थ प्राय: नष्ट हो ही जाया करते हैं।

महाकाव्य का जब प्रचार बढ़ा तब उसमें कला की मात्रा भी बढ़ने लगी। समाज की दशा भी अति जटिल होने लगी। प्राचीन सरलता का स्थान बाह्या-डम्बर ने ले लिया। यही दशा साहित्य की हुई। रामायण के प्राकृतिक काव्य के झरनों का स्थान कृत्रिम तटों से सुशोभित, बेल बूटों से अलङ्कृत, नगरों में बहने वाली नहरों और दीर्घिकाओं ने लेलिया।

यह युग समृद्धि का था जिसका प्रभाव काव्य को ह्रासमय पतन की ओर धकेलता गया। अश्वघोष और कई अंशों में कालिदास को छोड़ कर अन्य प्रमुख कवि-भारवि, माघ, प्रभृति इसी लहर में बह गये। रूढ़ि-वाद ने प्रगति-वाद का स्थान लिया। राज-सभा का ठाठ उस का आतङ्क, उस की सजधज, सब साहित्य में टपकने लगी। राज-सभा जैसे सब के लिए नहीं होती वैसे ही उस सभा के लिए साहित्य भी रचा गया। साहित्य भी सीमा की परिधि में बँध गया। रामायण की सार्वभौमता अब लुप्त सी दिखाई देती है। संकीर्णता अधिक है। व्यापकता कम है। अश्वघोष और कालिदास इस दोष से मुक्त प्रतीत

होते हैं परन्तु उन के परवर्ती कवि भी इस दोष से मुक्त हों ऐसी बात नहीं,उन पर देश काल का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है ।

अश्वघोष–

अश्वघोषरचित बुद्ध-चरित के नायक राजकुमार सिद्धार्थ गौतमबुद्ध आज से २५०० वर्ष पूर्व कपिलवस्तु नामक राजधानी में उत्पन्न हुए । उन का प्रभाव आज भी महान् है । किस को पता था कि एक तपस्वी राजकुमार भिक्षुराज बन कर इतना महामान्य बन जायगा ? बुद्ध भगवान् को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में अवतार कहा गया है और उन को इस प्रकार उच्चपदवी देदी गई है । उन्होंने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी । यहां तक कि बुद्ध का जीवन उन के समय में लिखा नहीं मिलता जैसे कि राम और कृष्ण का मिलता है । बड़े आश्चर्य की बात है कि रामायण महाभारत जैसे किसी बौद्ध इतिहास-पुराण की सृष्टि नहीं हुई !

बौद्ध साहित्य विशाल है । जैसे मर्यादापुरुषोत्तम राम और योगिराज श्री कृष्ण के जीवन रामायण महाभारतादि इतिहास पुराण ग्रन्थों से संकलित किए जा सकते हैं उसी प्रकार बुद्ध भगवान् का जीवन चरित्र भी मान्य बौद्ध ग्रन्थों पिटकत्रय, महावस्तु, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि के आधार पर संकलित किया जासकता है । ऐसा ही प्रयास प्राचीन काल में कनिष्क के समय महाकवि अश्वघोष ने किया । ये महाराज कनिष्क के समकालीन थे । इन्होंने बौद्धधर्म के प्रचार में अपनी काव्य-शक्ति का सदुपयोग किया । काव्य की सुललित भाषा में बुद्ध धर्म के तत्वों को समझाया । बुद्धचरित २८ सर्गों में लिखा गया है । सम्पूर्ण पुस्तक तो तिब्बत और चीनी भाषाओं में अनूदित मिलती है । संस्कृत में दूसरे सर्ग से तेरहवें तक तथा दो तिहाई भाग पहले सर्ग का और एक चौथाई भाग चौदहवें सर्ग का मिलता है । अश्वघोष की भाषा सरल तथा मधुर है और काव्यशैली भी कठिन नहीं । उपमाएँ सुन्दर एवं रोचक हैं ।

शारि पुत्र प्रकरण, सौन्दरानन्द इन के अन्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं । उन के ग्रन्थों में बौद्धसिद्धान्तों का काव्य-मय वर्णन तो है ही परन्तु कालिदास और रामायण काल के अन्तराल का प्रतिनिधि होने का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है किन्तु तब तक यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि कालिदास और अश्वघोष में पूर्वापर कौन है जब तक कालिदास का समय निर्धारित न हो जाय । प्रसाद और माधुर्य में अश्वघोष कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं परन्तु काव्य-संस्कृति में कालिदास आगे बढ़े हुए हैं । काव्य-कला की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास के समकक्ष नहीं हो सकते । जो प्रगल्भता और प्रौढ़ता एक परिमार्जित कवि में पाई जाती हैं वे अश्वघोष में नहीं । कविशिरोमणि की पदवी प्राप्त करने का अधिकार कालिदास को ही है । हम ने प्रस्तुत संग्रह में बुद्ध का तपोवन

गमन अश्वघोष की रचना से, दिलीप का तपोवनगमन कालिदास की कृति से लिये हैं जिससे दोनों कवियों की भाषा, भाव और शैली की तुलना की जासके अश्वघोष ने दार्शनिक तत्वों को मधुर भाषा में लिख कर एक उपदेशक कवि का काम किया है। उनके नायक बुद्ध भगवान् संन्यास और विरक्ति में अधिक आस्था रखते हैं। तदनुसार अश्वघोष के ग्रन्थों में भी यही वैराग्य की भावना प्रस्फुटित होती है।

कालिदास

कालिदास की महिमा केवल इस लिये नहीं कि उसने सुन्दर काव्य-रचना की है पर इस लिए कि वह आर्य-संस्कृति का प्रतिनिधि कवि है।

उस में गीता में दिया गया 'कवि' का लक्षण 'कविं पुराणमनुशासितारम्' पूरा २ घटित होता है। कालिदास की कल्पना मनुष्य-वर्ग को आगे ले जाने वाली है। नई सूझ, नए विचार, उनका अनुपम काव्य जाति में जीवन-संचार करने वाला है। कलुषित मनोवृत्तियों को तृप्त करने वाली रचना साहित्य नहीं कहा जा सकता। हित करने वाला सुख-दुख में साथ देने वाला साहित्य ही सच्चा साहित्य होता है। कालिदास सच्चे साहित्य के ब्रह्मा हैं। न केवल भारतवासी ही प्रत्युत अन्य देश वासी भी कालिदास को अभी तक क्यों नहीं भूल सके इस का उत्तर उन की कृतियों में ढूँढिये।

कुमार सम्भव—कुमार संभव में गार्हस्थ्य जीवन का मनोरम विश्लेषण मिलता है। सामाजिक सुख-शांति पति-पत्नी के सम्बन्ध पर आश्रित है। यदि उक्त सम्बन्ध पवित्र, शुद्ध, निर्दोष, अभिन्न, निर्व्याज, सरल एवं प्रेमास्पद है तो जीवन-यात्रा भी सुकर तथा सरल होगी। सतीत्व की नींव पर ही हमारे ऋषियों ने जीवन-भवन खड़ा किया है और इसी का सन्देश कालिदास ने सती और शिव के जीवन-द्वारा कह सुनाया। कुमार संभव में तपस्या और प्रेम का आदर्श मेल हुआ है। कुमार संभव का यही विषय है। भाषा प्राञ्जल है। प्रकृति वर्णन अनुपम है। 'उपमा कालिदासस्य' का यह अर्थ नहीं कि वे केवल उपमा अलङ्कार ही रचना में ला सकते हैं। उपमा तो अलङ्कार मात्र का मूलाधार है। अन्य सब अलङ्कार उपमा से ही अनुप्राणित होते हैं। उपमाजन्य विचार-सन्देह ही अलङ्कृत भाषा का आधार है। ऐसी मधुर सुललित अलङ्कृत भाषा लिखने में कालिदास सिद्ध-हस्त हैं।

कालिदास का श्रृङ्गार-रस वर्णन भी बड़ा उदार और उदात्त है इस में वासना का लेश भी नहीं। कन्दर्प का अनङ्ग होना कुमार सम्भव का ही विषय तो है। मार-विजय का उदाहरण भगवान् बुद्ध के जीवन में मिलता है। परन्तु उस में गृहस्थ का सन्देश नहीं। उस में संन्यास मार्ग का उपदेश है जो एकाङ्गी

होने के कारण जन-साधारण को नहीं सुहाता। उस के लिए कालिदास का कुमार सम्भव ही उपादेय है जिस में दिव्य-जीवन की झलक मिलती है।

रघुवंश में राम के वंश का चरित गाया गया है। राम के पूर्वजों और उत्तराधिकारियों का काव्य-मय वर्णन इस में मिलता है। इस महाकाव्य में स्वाभाविकता, चरित्रचित्रण की सरलता, सबलता तथा सरसता प्रत्यक्ष अनुभव होती है। भाषा सुगम है। रघुवंश की रोचकता उसकी सर्वप्रियता में है। रामायणके उपरान्त यदि कोई श्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है तो वह रघुवंश ही है।

सृष्टि-सुषमा और मानवीय-प्रकृति सर्वाङ्ग सुन्दर तथा विशद वर्णन जैसा कलिदास की सरल भाषा में मिलता है वैसा अन्य कवियों की कृतियों में नहीं। भवभूति कालिदास से केवल करुण-रस निरूपण में बढ़ता है परन्तु कालिदास की सर्वतोमुखी प्रतिभा की तुलना नहीं कर सकता। 'उत्तर-रामचरित' में सीता-की करुण कहानी रुलाने वाले शब्दों में अवश्य लिखी है किंतु रघुवंश जैसी (Epic) जिसमें समस्त रसों का परिपाक हुआ हो, भव-भूति की लेखनी से न निकल सकी। नाटक, काव्य, गीति, सब में कालिदास की प्रतिभा की अबाध गति है। कालिदास की लोक-प्रियता उनकी प्रसाद युक्त शैली में है। कहीं विक्लिष्टता नहीं; कहीं विषमता नहीं; कृत्रिमता का कहीं नाम नहीं।

हमने इस संग्रहमें रघुवंशके द्वितीय सर्ग को उद्धृत किया है। इसमें आर्य-संस्कृतिका सुन्दर उदाहरण मिलता है। वशिष्ठके आश्रममें सपत्नीक दिलीप द्वारा नन्दिनीकी सेवा और दिलीप-परीक्षा पाठकोंको मुग्ध एवं स्तब्ध करने वाली हैं और पठन तथा मननसे ही सम्बन्ध रखती हैं। कालिदास की अमर कृतियां नित्य नयी प्रतीत होती हैं उनमें बासीपन या फीकापन (Staleness) आ नहीं सकता क्योंकि वे अनवरत बहने वाले जीवन की जीति जागती मूर्तियां हैं। जीवन के विशाल अनुभव का प्रतिबिम्ब उनकी कृतियों में मिलता है। उनका प्रकृति-निरीक्षण, मनुष्य-स्वभाव-विश्लेषण, गम्भीर और व्यापक स्वाध्याय, ये सब उनके ग्रन्थोंमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। कविकुलगुरु कालिदास की कीर्ति का महत्त्व इसी से भली प्रकार जाना जा सकता है कि यूरोप में संस्कृत भाषा को प्रख्यात करने वाले उनके ग्रन्थ-रत्न ही हैं। जर्मन दार्शनिक गेटे ने विशेषत: शकुन्तला की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

कालीदास के उपरान्त के कवि

अश्वघोष और कालिदास के उपरांत जो कवि हुए उन में भाषा की क्लिष्टता और शब्दनिपुणता अधिक आती गयी, भाव गौण होते गए और भाषा प्रधान। जिस से कोई नवीनता उन में न आने पाई। राजाश्रित होने के कारण कविलोग अपने अभिभावकों को प्रसन्न करने में ही कवित्व शक्ति की सफलता समझते थे। उन में स्वतन्त्र रूप से काव्य-सृष्टि की रुचि

न रह गयी थी। काव्य में परतन्त्रता आ चुकी थी। राज सभाओं के मनोविनोद के लिए कविता का प्रयोग होने लग पड़ा था। साम्राज्यवाद पूरे जोरों पर था। रामायण की सरलता और तीव्रवेगमयी वाग्धारा अब लुप्त हो चुकी थी। कृत्रिमता की बाढ़ आ रही थी। राजाओं की भोग लिप्सा ने काव्य को भी कलुषित कर दिया। काम-शास्त्र, अलङ्कार-शास्त्र और और काव्य-शास्त्र एक हो गये। जिस से कवित्व-शक्ति को बड़ी हानि पहुंची। रूढ़ि वाद ने धाक बान्धनी प्रारम्भ कर दी। कवि का Genius प्रतिभाशालित्व ऐसे गोरख-धन्धे में जकड़ा गया, ऐसे कीचड़ में जा फँसा जिस से निकलना कठिन हो गया।

वैयक्तिक निरीक्षण, निजी अनुभव, विचार-स्वातन्त्र्य सब लुप्त हो गये। पराधीनता इतनी बढ़ी कि उसने मोहमन्त्र का काम किया। कवि अपने आपको भूल गया और लगा चक्कर काटने नखशिख की भूलभुलैयों में। काव्य का स्रोत बन्द हो गया। नये साहित्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। यही आवश्यक साहित्य कुछ शताब्दियों के उपरान्त हिन्दी के भक्ति-काव्य में भारत को मिला।

यूं तो संस्कृत साहित्य में रचना-शैली-भेद से गद्य-पद्य का पृथग् वर्गी-करण नहीं किया गया। गद्य-पद्य लेखकों को कवि कहा गया है। काव्य, नाटक आदि सब एक ही सूत्र में इस प्रकार पिरोये गये हैं जैसे माला में विविध मणि। केवल विभाग दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रामायण-महाभारत के रचयिता वाल्मीकि-व्यास के अतिरिक्त प्रमुख कवि ये हैं—अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, रत्नाकर, श्रीहर्ष। इसी प्रकार नाटककारों में प्रसिद्ध नाटककार भास, शूद्रक, कालिदास, हर्षवर्धन, भवभूति, विशाखदत्त, भट्ट नारायण, राजशेखर और कृष्ण मिश्र हैं। प्रसिद्ध गद्यलेखक दण्डी, सुबन्धु और बाण हैं।

काव्य कई रूपोंमें लिखा जासकता है। महाकाव्य, नाटक, गद्य आदि रूपों के अतिरिक्त गीति काव्य भी एक रोचक रूप है। इसमें प्रधान कृतियां ये हैं—ऋतु संहार, मेघदूत, सप्तशती, भर्तृहरिशतकत्रय, अमरुशतक, गीतगोविन्द, भामिनी विलास।

आख्यान साहित्य में पञ्चतन्त्र और हितोपदेश तो प्रचलित हैं ही परन्तु सर्वप्रमुख स्रोत रूप में 'बृहत्कथा' कथासरित्सागर, बृहत्कथा मञ्जरी, विश्वसाहित्य में भी उच्च पदवी प्राप्त करने योग्य हैं। ऐतिहासिक काव्यों में हर्षचरित और राजतरङ्गिणी प्रसिद्ध हैं। गद्य-पद्यमयी काव्यों में रामायणचम्पू, नलचम्पू, वरदाम्बिकापरिणयचम्पू आदि प्रसिद्ध हैं।

भर्तृहरि

सप्तम शताब्दी में भर्तृहरि हुए। इन के नीतिमय काव्य से कुछ एक गीतियां इस संग्रह में उद्धृत की गई हैं। भर्तृहरि को संसार का बड़ा अनुभव था। इन की मार्मिक भावुकता का परिचय इन के शतकों से मिलता है। जीवन के विविध अनुभव मधुर, कटु, तीक्ष्ण और दारुण इन की कृति में मिलते हैं। विविध छन्दों में नीतिरत्न इस प्रकार जड़े हुए हैं कि काव्य-मधुरिमा

पदपद पर टपकती है और उसका आस्वाद लेते ही बनता है। भर्तृहरि की सूक्तियां लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हैं यथा—'शीलं परं भूषणम्' 'मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ।' 'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।' यदि वैराग्य शतक में करुण रस का परिपाक हुआ है तो नीतिशतक में जीवन व्यवहार का पथ-प्रदर्शन किया गया है । श्रृङ्गार-शतक में प्रवृत्ति-मार्ग का उल्लेख है तो वैराग्य में निवृत्ति-मार्ग का । 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' कह कर कवि ने वैराग्य की पुष्टि की है । भर्तृहरि कवि, वैयाकरण और राजनीतिज्ञ थे परन्तु कविता की महिमा उनकी कृतियों में प्रचुर मात्रामें मिलती है । 'सुकविता चेत् राज्येन किम्' आदि २ उन की रचनाओं में विचार-स्वातन्त्र्य स्थान २ पर टपकता है। हरि के काव्य कौशल का परिचय इस संग्रह में मिलेगा ।

जगन्नाथ पण्डितराज

पण्डितराज जगन्नाथदास १७वीं शताब्दी में हुए। इनका 'रसगङ्गाधर' साहित्य समालोचना-शास्त्र में एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है । इनके मुक्त गीतात्मक पद्योंका संग्रह भामिनी-विलास है । जिसमें से कुछ पद्य इस संग्रहमें संगृहीत हैं ।

संस्कृत वाग्देवी का अनवरत प्रवाह बहता -चला आरहा है। आज भी संस्कृतके अच्छे गद्य-पद्य लेखक भारतवर्षमें मिलते हैं । कई एक मासिक-पत्रिकाएँ संस्कृतमें प्रकाशित होती हैं । यथा जयपुर से'संस्कृत-प्रभाकर, अयोध्या से'संस्कृतम्' कलकत्तासे'मञ्जूषा'। संस्कृत में वाग्धाराबद्ध-शैली में पण्डित प्रवर अब भी व्याख्यान देते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं । कई विश्व विद्यालयों में कई परीक्षाओं का माध्यम अभी तक संस्कृत ही है । हमारे दैनिक जीवन पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है ।

हमने इस 'संस्कृत-काव्य-लहरी, में स्वनाम धन्य प्रातःस्मरणीय कवीश्वरों की कृतियों से कुछ उद्धरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये हैं । आशा है कि इन के अध्ययन और मनन से पाठकों की रुचि संस्कृत-साहित्य में जागृत होगी और वे अपने पूर्वजों की अमर, अपार और अनुपम सम्पत्ति को अपनाने में प्रवृत्त होंगे जिससे भविष्यमें भारतीय जीवन अधिक पूर्ण और सुन्दर बन सकेगा । तभी इस संग्रहका नाम 'संस्कृत-काव्य-संग्रह' अन्वर्थक प्रमाणित हो सकेगा । संस्कृत में संस्कृति है और उसकी अमरधारा हमारे जीवनमें अमृतत्व का सञ्चार कर रही है ।

इस भूमिका को हम भवभूतिके शब्दोंमें सम्पूर्ण करते हैं । उन कवियोंको सप्रश्रय नमस्कार है जिनके मुखारविन्दसे निकली हुई दैवी वाक् हमारे लिए सदा और सर्वथा प्रेरणा, सद्भावना और सच्ची विचार शैलीका स्रोत बनती आरही है—

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे ।
वन्देमहि च तां देवीममृतामात्मनः कलाम् ॥

'संसारचन्द्र एम. ए.'

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणे
रामायणशिरोमणिटीकासमेतम् (संक्षिप्तम्)
सुन्दर-काण्डम्

ततो रावणानीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि॥ १॥
स सूर्याय महेन्द्राय पावनाय स्वयम्भुवे।
भूतेभ्यश्चाञ्जलिं बध्वा चकार गमने मतिम्॥ २॥
उत्पपाताथ वेगेन वेगवानविचारयन्।
सुपर्णमिव चात्मानं मेने स कपिकुञ्जरः॥ ३॥
स सागरमनाधृष्यमतिक्रम्य महाबलः।
त्रिकूटशिखरे लङ्कां स्थितां स्वस्थो ददर्श सः॥ ४॥
गिरिमूर्ध्नि स्थितां लङ्कां पाण्डुरैर्भवनैः शुभाम्।
स ददर्श कपिः श्रीमान् पुरमाकाशगं यथा॥ ५॥

जाम्बवत्कर्तृक सागरतरणोद्देश्यक प्रोत्साहनानन्तरकालिकं वृत्तान्तमाह—तत इत्यादिभिः। ततः स्ववीर्यस्मरणानन्तरं सीतायाः पदं स्थितिप्रदेशमन्वेष्टुं चारणैर्देवजाति विशेषैः आचरिते अतिसंचारविशिष्टे पथि आकाशमार्गे प्राप्तमिति शेषः, इयेष ववाञ्छ।

स इति—सूर्यादिभ्योऽञ्जलिं बध्वा स हनूमान् गमने मतिं बुद्धिं चकार।

उत्पपातेति—अविचारयन् उत्पतनं किंचिदपि श्रमजनकमित्यगणयन् स हनूमान् वेगेन उत्पपात। अथ अतः आत्मानं सुपर्णं शोभितपक्षवन्तं पक्षिराजमिव मेने।

तीर्णसागरस्य हनुमतो वृत्तान्तमेवाह—स इत्यादिभिः। अनाधृष्यं धर्षयितुमशक्यं सागरं स हनूमान् अतिक्रम्य त्रिकूटस्य गिरिवर्याभिधस्य शिखरे स्वस्थः स्थितः सन् लङ्कां ददर्श।

गिरीति—आकाशगं आकाशादूर्ध्वं गो गमनं यस्य तत्पुरं यथा श्रीमान् हनुमान् लङ्कां ददर्श।

पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् पुरीम् ॥ ६ ॥
सत्त्वमास्थाय मेधावी हनुमान् मारुतात्मजः।
निशि लङ्कां महासत्त्वो विवेश कपिकुञ्जरः ॥ ७ ॥
शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै।
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ॥ ८ ॥
रक्षितं सुमहावीर्यैर्यातुधानैस्सहस्रशः।
राक्षसाधिपतेर्गुप्तमाविवेश गृहं कपिः ॥ ९ ॥
प्रासादसंघातयुतं स्त्रीरत्नशतसंकुलम्।
सुव्यूढकक्ष्यं हनुमान् प्रविवेश महागृहम् ॥ १० ॥
तामपश्यन् कपिस्तत्र पश्यंश्चान्या वरस्त्रियः।
अपक्रम्य तदा वीरः प्रध्यातुमुपचक्रमे ॥ ११ ॥
दृष्टमन्तःपुरं सर्वं दृष्ट्वा रावणयोषितः।
न सीता दृश्यते साध्वी वृथा जातो मम श्रमः ॥ १२ ॥
किं नु मां वानराः सर्वे गतं वक्ष्यन्ति सङ्गताः।
अदृष्ट्वा किं प्रवक्ष्यामि तामहं जनकात्मजाम् ॥ १३ ॥

पालितामिति—आकाशे प्लवमानां गच्छन्तीमिव पुरीम् हनूमान् ददर्श।

हनुमत्कर्तृक लङ्काप्रवेशनमेव वर्णयति सत्त्वमिति—सत्वं प्रवेशनयोग्य-शनैर्गतिमास्थाय निश्चित्य महासत्त्वोऽतिबलवान् हनूमान् निशि लङ्कां प्रविवेश।

शुश्रावेति—तत्र तस्मिन् समये जपतां पठतां मन्त्रान् रक्षोगृहेषु शुश्राव।

रक्षितमिति—सहस्रशो यातुधानैः रक्षितं गुप्तं राक्षसाधिपतेर्गृहं कपिर्हनुमान् ददर्श।

स्वाध्यायनिरतान् वेदपाठपरायणान् यातुधानान् रक्षोविशेषान् स हनूमान् ददर्श।

प्रासादेति—प्रासादसंघातैर्युतं संव्यूढाः विशालाः कक्ष्या यस्मिन् तत् महागृहं हनुमान् प्रविवेश।

तामिति—तां सीतामपश्यन् कपिः अन्याः स्त्रियः पश्यन् सन् अपक्रम्य उत्प्लुत्य प्रध्यातुं विचारयितुमुपचक्रमे।

दृष्टमिति—रावणयोषितो दृष्ट्वा सर्वमन्तः पुरं मया दृष्टम्, सीता तु न दृश्यते अतः मम श्रमः समुद्रलंघनादिजनितखेदः वृथा।

किन्विति—गतं सीतासन्देशं विना प्राप्तं मां सर्वे वानराः किं नु वक्ष्यन्ति प्रक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः। जनकात्मजां अदृष्ट्वा अहं किं प्रवक्ष्यामि नोत्तरमस्तीत्यर्थः।

अनिर्वेदः श्रियो मूलं अनिर्वेदः परं सुखम् ।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ।
इति संचिन्त्य भूयोऽपि विचेतुमुपचक्रमे ॥ १४ ॥
उत्पतन्निपतंश्चापि तिष्ठन् गच्छन् पुन पुनः ।
अपावृण्वंश्च द्वाराणि कवाटानवघाटयन् ॥
सर्वमप्यवकाशं स विचचार महाकपिः ॥ १५ ॥
चतुरङ्गुलमात्रोऽपि नावकाशस्स विद्यते ।
रावणान्तःपुरे तस्मिन् यं कपिर्न जगाम सः ॥ १६ ॥
अदृष्ट्वा जानकीं सीतां अब्रवीद्वचनं कपिः ।
इह सम्पातिना सीता रावणस्य निवेशने ॥
आख्याता गृध्रराजेन न च पश्यामि तामहम् ॥ १७ ॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा मनसा चाधिगम्य ताम् ।
अवप्लुतो महातेजाः प्राकारं तस्य वेश्मनः ॥ १८ ॥
अशोकवनिकायां तु तस्यां वानरपुङ्गवः ।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ १९ ॥
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेण रुचिरप्रभाम् ।
पिनद्धां धूमजालेन शिखामिव विभावसोः ॥ २० ॥

अनिर्वेद इति—अनिर्वेदः कृत्यात् निवृत्तिर्यस्मात् स उत्साहः इत्यर्थः श्रियः सम्पत्तेः मूलं कारणं अतएव अनिर्वेदः परं सुखं परमसुखहेतुः । सर्वार्थेषु निखिलकर्तव्येषु प्रवर्तकः अनिर्वेदः हि एव । इति संचिन्त्यविचेतुमुपचक्रमे ॥

उत्पतन्निति—उत्पतनादि कुर्वन् महाकपिः अवकाशम् अन्वेषितातिरिक्तदेशं सर्वमपि विचचार ॥

चतुरङ्गुलमात्र इति—यमवकाशं स कपिर्न जगाम सोऽवकाशो देशः चतुरङ्गुलमात्रोऽपि न विद्यते ॥

अदृष्ट्वेति—सीतां अदृष्ट्वा कपिः अब्रवीत् । इह अस्मिन् रावणस्य निवेशने सीता स्थितेति शेषः, गृध्रराजेन आख्याता । परं तामहं न पश्यामि ।

स इति—अशोकवनिकान्वेषणमुपक्रमते—स हनूमान् मुहूर्तं ध्यात्वा वनिकागमनप्रकारं संचिन्त्य तां सीतां मनसा अधिगम्य प्राप्य तस्य रावणस्य वेश्मनः वेश्मप्राकारात्प्राकारं अशोकवनिकाया इति शेषः अवप्लुतः उत्प्लुत्या प्राप्तः ।

अशोकेति—अशोकवनिकायां वानरपुङ्गवः शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिव अमलां दोषसंसर्गरहितां सीतां ददर्श ।

मन्दमिति—मन्दं प्रख्यां दैन्यबोधनमयते प्राप्नोति तेन रूपेण रुचिरप्रभा यस्या तां धूमजालेन पिनद्धाम् आच्छादितां विभावसोरग्नेः शिखामिव ।

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा।
सपङ्कामनलङ्कारां विपद्मामिव पद्मिनीम् ॥ २१ ॥
व्रीडितां दुःखसंतप्तां परिम्लानां तपस्विनीम्।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम् ॥ २२ ॥
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च।
शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥ २३ ॥
तस्य सन्दिदिहे बुद्धिर्मुहुः सीतां निरीक्ष्य तु।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव ॥ २४ ॥
दुःखेन बुबुधे सीतां हनुमाननलंकृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम् ॥ २५ ॥
तां समीक्ष्य विशालाक्षीं राजपुत्रीमनिन्दिताम्।
तर्कयामास सीतेति कारणैरुपपादिभिः ॥ २६ ॥
वैदेह्या यानि चाङ्गेषु तदा रामोऽन्वकीर्तयत्।
तान्याभरणजालानि शाखाशोभीन्यलक्षयत् ॥ २७ ॥

पीतेनेति—क्लिष्टेन जीर्णतया प्रतीतेन पीतेन एकेन उत्तमवाससा संवीताम् अनलङ्काराम् अलङ्कृतिरहिताम् अत एव विपद्मां पद्मिनीं सरसीमिव सपङ्कां मलिनाम्।

व्रीडितामिति—दुःखसंतप्तां वियोगजनितदुःखाक्रान्तामत एव अङ्गारकेण भौमेन ग्रहेण पीडितां रोहिणीमिव पीडिताम्।

अश्रुपूर्णेति—अश्रुपूर्णमुखीम् अत एव दीनां क्षीणां तत्त्वेन प्रतीयमानाम् अनशनेन भोजनाभावेन कृशाम् अत एव शोकध्यानपरां शोकहेतुकचिन्ताक्रान्तां नित्यं दुःखपरायणां सीतां ददर्शेत्यनुकृष्यते।

तस्येति—आम्नायानाम् अभ्यासानाम् अयोगेन प्रशिथिलां विद्यामिव तां सीतां निरीक्ष्य तस्य हनुमतो बुद्धिः सन्दिदिहे।

दुःखेनेति—संस्कारेण यथोचितस्नानादिरूपसंस्कृत्या हीनाम् अतएव अर्थान्तरगतां वाचमिव अनलङ्कृता सीता दुःखेन बुबुधे।

तामिति—तां सीतां समीक्ष्य कारणैरुपपादिभिः हेतुभिः इयं सीतेति तर्कयामास अनुमानेन निश्चयं चकार।

वैदेह्या इति—तदा प्रस्थानसमये वैदेह्या अङ्गेषु यान्याभरणजालानि रामोऽन्वकीर्तयत् तानि शाखाशोभीनि शाखायां शोभन्ते इति शाखाशोभीनि भर्तृविरहकाले भूषणधारणस्यानुचितत्वात् स्वाङ्गेभ्य उन्मुच्य शाखायां न्यस्तानीत्यर्थः अलक्षयत् अपश्यत।

तत्र यान्यवहीनानि तान्यहं नोपलक्षये।
भूषणानि विचित्राणि दृष्टानि धरणीतले।
अनयैवापविद्धानि स्वनवन्ति महान्ति च॥ २८॥
इदं चिरगृहीतत्वाद्वसनं क्लिष्टवत्तरम्।
तथापि नूनं तद्वर्णं तथा श्रीमद्यथेतरत्॥ २९॥
इयं कनकवर्णाङ्गी रामस्य महिषी प्रिया।
प्रनष्टाऽपि सती याऽस्य मनसो न प्रणश्यति॥ ३०॥
अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम्।
तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्त्तमपि जीवति॥ ३१॥
दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति॥ ३२॥
एवं सीतां तदा दृष्ट्वा हृष्टः पवनसंभवः।
जगाम मनसा रामं प्रशशंस च तं प्रभुम्॥ ३३॥
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पपर्याकुलेक्षणः।
सीतामाश्रित्य तेजस्वी हनुमान् विललाप ह॥ ३४॥

तत्रेति—तत्र रामाज्ञापिताभरणेषु यानि अवहीनानि ऋष्यमूकादौ पतितान्यहं नोपलक्षये। अनयैव अपविद्धानि परिक्षिप्तानि भूषणानि दृष्टानि।

इदमिति—यद्यपि चिरगृहीतत्वाद्धेतोरिदं वसनं क्लिष्टवत्तरम् अतिबाधिताभ तथापि तद्वर्णं पीतवर्णविशिष्टं तथा श्रीमत् वह्वैश्वर्यलभ्यं यथा श्रीमत् इदं अन्तरीयं तथा इतरत् तद्वृत्तासक्तोत्तरीयमपि।

इयमिति—प्रनष्टापि या अस्य रामस्य मनसः सती महिषी न प्रणश्यति तस्य रामस्य सा प्रिया श्रिया इयमेव।

अस्या इति—अस्याः मनः तस्मिन् रामे तस्य रामस्य च मनः अस्यां तेन हेतुना इयं स च जीवति मुहूर्तमपि अन्यथा न जीवेदित्यर्थः।

दुष्करमिति—अनया हीनः रामः आत्मनो देहं धारयति शोकेन च न अवसीदति सर्वविस्मारकखेदं प्राप्नोति तत् दुष्करं कृतवान्।

एवमिति—तदा तस्मिन् काले एव सीतां दृष्ट्वा हृष्टः पवनसंभवः रामं मनसा जगाम प्रशशंस च।

स इति—स हनुमान् मुहूर्तं ध्यात्वा सीतां सीतादुःखमाश्रित्यावलोक्य विललाप विविधमुवाच।

मान्या गुरुविनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया ।
यदि सीताऽपि दुःखार्ता कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ३५ ॥
रामस्य व्यवसायज्ञा लक्ष्मणस्य च धीमतः ।
नात्यर्थं क्षुभ्यते देवी गङ्गेव जलदागमे ॥ ३६ ॥
तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम् ।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥ ३७ ॥
अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो बाली महाबलः ।
चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
निहतानि जनस्थाने शरैरग्निशिखोपमैः ॥ ३८ ॥
सागरश्च मया क्रान्तः श्रीमान् नदनदीपतिः ।
अस्या हेतोर्विशालाक्ष्याः पुरी चेयं निरीक्षिता ॥ ३९ ॥
यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत् ।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः ॥ ४० ॥
राज्यं वा त्रिषु लोकेषु सीता व जनकात्मजा ।
त्रैलोक्यराज्यं सकलं सीताया नाप्नुयात् कलाम् ॥ ४१ ॥
सर्वान् भोगान् परित्यज्य भर्तृस्नेहबलात्कृता ।
अचिन्तयित्वा दुःखानि प्रविष्टा निर्जनं वनम् ॥ ४२ ॥

मान्येति—गुरुभिर्विनीतस्य शिक्षितस्य लक्ष्मणस्य गुरुप्रिया गुरोः रामस्य प्रिया सीता यदि दुःखार्ता तर्हि कालः परमात्मसंकेतः दुरतिक्रमः अतिक्रमितुमशक्यः ।

रामस्येति—देवी सीता यतो रामस्य लक्ष्मणस्य च व्यवसायज्ञा अनिवार्य-पराक्रमविज्ञात्री अतोऽत्यर्थमत्यन्तं न क्षुभ्यते । तत्र दृष्टान्तः जलदागमे वर्षतौ गङ्गा प्रयागस्थजाह्नवीव ।

तुल्येति—तुल्यानि रामशीलादिसदृशानि शीलं वयश्च वृत्तमाचरणं च यस्याः तुल्ये अभिजनः कुलं लक्षणं सामुद्रिकोक्त सुलक्ष्म यस्याः तां वैदेहीं राघव एवार्हति अत एव इयं वैदेही एव तं राघवमर्हति ॥

अस्या इति—अस्या हेतोर्बाली हतः । रक्षसां चतुर्दश सहस्राणि निहतानि ॥

सागर इति—निरीक्षिताऽवलोकिता ।

यदीति—अस्याः कृते प्राप्तये समुद्रान्तां मेदिनीं जगत् त्रिलोकीं वा परिवर्तयेत् भ्रामयेत् तर्हि युक्तमेव इति मे मतिर्निश्चयः ।

राज्यमिति—त्रिषु लोकेषु राज्यमधिकमिति शेषः, सीता वाधिकेति विचार्यमाणे सतीति शेषः, सकलं त्रैलोक्यराज्यं सीताया कलां षोडशांशमपि नाप्नुयात्

सर्वानिति—भर्तृस्नेहबलात् सर्वान् भोगान् परित्यज्य दुःखानि अचिन्तयित्वा च कृता सहगमनविषयकप्रयत्नवती सीता वनं प्रविष्टा ।

इमां तु शीलसंपन्नां द्रष्टुमर्हति राघवः।
अस्या नूनं पुनर्लाभाद्राघवः प्रीतिमेष्यति॥ ४३॥
कामभोगैः परित्यक्ता हीना बन्धुजनेन च।
धारयत्यात्मनो देहं तत्समागमलालसा॥ ४४॥
नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति॥ ४५॥
भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणादपि।
एषा विरहिता तेन भूषणार्हा न शोभते॥ ४६॥
इमामसितकेशान्तां शतपत्रनिभेक्षणाम्।
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथितं मनः॥ ४७॥
तथा विप्रेक्षमाणस्य वनं पुष्पितपादपम्।
विचिन्वतश्च वैदेहीं किञ्चिच्छेषा निशाऽभवत॥ ४८॥
षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥ ४९॥
अथमङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः।
प्राबुध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः॥ ५०॥

इमामिति—इमां सीतां राघवो द्रष्टुमर्हति। अस्याः सीताया लाभात् राघवः प्रीतिमेष्यति प्राप्स्यति।

कामेति—कामभोगैः परित्यक्ता सीता सत्समागमलालसा रामसमागमविषयकोत्कटेच्छावती सती आत्मनो देहं धारयति।

न इति—एकस्थ हृदया एषा सीता राममेवानुपश्यति, अतः राक्षस्यो राक्षसीः पुष्पफलद्रुमांश्च न पश्यति।

भर्तेति—भर्ता भूषणादप्यधिकं नार्याः भूषणं स्त्रीशोभाहेतुः अतः भूषणार्हापि एषा सीता तेन रामेण विरहिता सती न शोभते।

इमामिति—असिताः कृष्णाः केशाः यस्याः तां, तां प्रसिद्धां इमां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि मनो व्यथितम्।

तथेति—वैदेहीं विचिन्वतः अतएव तथा उक्तप्रकारेण वनं विप्रेक्षमाणस्य हनुमतो निशा किंचिच्छेषा अभवत्।

षडङ्गेति—षडङ्गवेदविदुषां वेदवेदितॄणाम् अतएव क्रतुप्रवरयाजिनां ब्रह्मरक्षसां ब्राह्मणराक्षसानां ब्रह्मघोषान् वेदनिनदान् विरात्रे रात्र्यवसाने शुश्राव हनूमानितिशेषः।

अथेति—मङ्गलवादित्रैः माङ्गलिकवाद्यवद्भिः राक्षसैः कर्तृभिः श्रोत्रमनोहरैः शब्दैः दशग्रीवः प्राबुध्यत।

विबुध्य तु यथाकालं राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ।
अशोकवनिकामेव प्राविशत् सन्ततद्रुमाम् ।
वृतः परमनारीभिः ताराभिरिव चन्द्रमाः ॥ ५१ ॥
रावणोऽयं महाबाहुरिति संचिन्त्य वानरः ।
पत्रगुल्मान्तरे सक्तो हनुमान् संवृतोऽभवत् ॥ ५२ ॥
सीतामसित-केशान्तामुपावर्तत रावणः ।
स तां पतिव्रतां दीनां निरानन्दां तपस्विनीम् ।
साकारैर्मधुरैर्वाक्यैर्न्यदर्शयत रावणः ॥ ५३ ॥
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ ५४ ॥
ऋद्धिं ममानुपश्य त्वं श्रियं भद्रे यशश्च मे ।
किं करिष्यसि रामेण सुभगे चीरवाससा ॥ ५५ ॥
निक्षिप्तविजयो रामो गतश्रीर्वनगोचरः ।
व्रती स्थण्डिलशायी च शङ्के जीवति वा न वा ॥ ५६ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सीता रौद्रस्य रक्षसः ।
तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ॥ ५७ ॥

विबुध्येति—राक्षसेन्द्रः विबुध्य सन्ततद्रुमां नित्यं द्रुमविशिष्टाम् अशोकवनिकामेव ताराभिः चन्द्रमा इव नारीभिः वृतः सन् प्राविशत् ।

रावणोऽयमिति—अयं रावण इति सचिन्त्य वानरः पत्रगुल्मान्तरे पत्रसमूहान्तरे सक्तः सन् संवृतोऽभवत् गूढोऽभवत् । असितकेशान्तां सीतां रावणः उपावर्तत तत्समीपं प्राप ।

स इति—स रावणः पतिव्रतां निरानन्दाम् अतएव दीनां सीतां साकारैरभिप्रायसहितैः वाक्यैः न्यदर्शयत अब्रवीत् ।

बह्वीनामिति—इतस्तत आहृतानां मम सर्वासामेव बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां अग्रमहिषी भव । ते तव भद्रं कल्याणम् ।

ऋद्धिमिति—त्वं मम ऋद्धिं श्रियं च पश्य चीरवाससा चीराच्छादितेन रामेण किम् ।

निक्षिप्तेति—निक्षिप्तस्तव हरणादिना विनष्टः विजयः विजयसामर्थ्युत्साहादिर्यस्य अत एव गतश्रीः रामः जीवति न वा इत्यहं शङ्के विचारयामि ।

तस्येति—रक्षसस्तस्य रावणस्य तदुक्तं वचनं श्रुत्वा शुचिस्मिता सीता अन्तरतः मध्ये तृणं कृत्वा प्रत्युवाच ।

निवर्तय मनो मत्तः स्वजने क्रियतां मनः।
न मां प्रार्थयितुं युक्तं सुसिद्धिमिव पापकृत् ॥ ५८ ॥
अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम्।
नाहमौपयिकी भार्या परभार्या सती तव ॥ ५९ ॥
साधु धर्ममवेक्षस्व साधु साधुव्रतं चर।
यथा तव तथान्येषां दारा रक्ष्या निशाचर ॥ ६० ॥
इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
तथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥ ६१ ॥
विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥ ६२ ॥
मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि।
एवं हि ते भवेत् स्वस्ति संप्रदाय रघूत्तमे ॥
अन्यथा त्वं हि कुर्वाणो बधं प्राप्स्यसि रावण ॥ ६३ ॥
सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं राक्षसाधिपः।
प्रत्युवाच ततः सीतां विप्रियं प्रियदर्शनम् ॥ ६४ ॥

निवर्तयेति—मत्तः मनः निवर्तय स्वजनः स्वभार्यादिः तस्मिन् मनः क्रियताम्। पापकृत् सुसिद्धिमिव मां प्रार्थयितुं न युक्तम्। एक पत्न्या पतिव्रतया मया विगर्हितं पतिविरोधि कर्तृकत्वेन निन्दितं कार्यं कुत्सितस्त्रीभिः कर्तव्यं मया अकार्यं न कारयितव्यम्।

नाहमिति—तव भार्याभिः परभार्या अत्यन्तं सेविता सती औपयिकी रक्षणोपायसाधिका अहं न भविष्यामीति शेषः, अत एव साधु धर्मं साधु अवेक्षस्व चिन्तय, अत एव साधुव्रतं संकल्पं चर कुरु। हे निशाचर, दारा यथा तव रक्ष्याः तथा अन्येषामपि रक्ष्याः।

इहेति—इह लङ्कायां सन्तो महात्मानो न सन्ति वा सतो विद्यमानान् वा महात्मान्ते नानुवर्तसे अत एव ते बुद्धिः तथा विपरीता विरुद्धकर्मविषयिणी आचारवर्जिता च अस्तीति शेषः। एतेन त्वया महात्मानोऽनुसर्तव्या इति सूचितम्।

विदित इति—शरणागतवत्सलो यो रामः तेन सह तव मैत्री भवतु।

मामिति—अस्मै रामाय मां निर्यातयितुमर्हसि दातुमर्हसि त्वम्। एवम् अनेन प्रकारेण रघूत्तमे सम्प्रदाय प्रापय ते स्वस्ति भवेत्, अन्यथा कुर्वाणस्त्वं हे रावण, बधं प्राप्स्यसि।

सीताया इति—सीतायाः परुषं वचनं श्रुत्वा राक्षसाधिपः प्रियदर्शनां सीतां प्रत्युवाच।

वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते ।
जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते ॥ ६५ ॥
एतस्मात्कारणान्न त्वां घातयामि वरानने ।
द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः ॥ ६६ ॥
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम् ।
मम त्वां प्रातराशार्थमारभन्ते महानसे ॥ ६७ ॥
इत्युक्त्वा मैथिलीं राजा रावणः शत्रुरावणः ।
प्रस्थितः स दशग्रीवः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ६८ ॥
हनुमानपि विश्रान्तः सर्वं शुश्राव तत्त्वतः ।
ततो बहुविधां चिन्तां चिन्तयामास वानरः ॥ ६९ ॥
यां कपीनां सहस्राणि सुबहून्ययुतानि च ।
दिक्षु सर्वासु मार्गन्ते सेयमासादिता मया ॥ ७० ॥
अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
सममक्लिष्टकर्माणं स्वबन्धुमनुकीर्तयन् ॥ ७१ ॥

वाम इति—यस्मिन् जने वामः सुन्दर उत्कट इत्यर्थः, काम इच्छा निबध्यते चिरं तिष्ठति तस्मिन् जने अनुक्रोशः दया स्नेहश्च जायते एतेनाक्रोशस्नेहयोः क्रोधविध्वंसकत्वं सूचितम् । एतस्मादुक्तात् कारणात् त्वां न घातयामि ।

द्वाविति—योऽवधिः मया कृतः 'मासान् द्वादश भामिनी' इत्यनेन अरण्य काण्डे निश्चितः तन्मध्ये अवशिष्टाविति शेषः द्वौ मासौ रक्षितव्यौ । द्वाभ्यां मासाभ्याम ऊर्ध्वं भर्तारं मां लङ्काश्रियमनिच्छन्तीं त्वां मम प्रातराशाय प्रातःकालिकाशनार्थं महानसे पाकशालायां आरभन्ते आलभन्ते रलयोरभेदः 'आलम्भः स्पर्शहिंसयोः' इत्यमरः मम रावणस्य प्रातःकालिक भोजनार्थं त्वां सीतां हनिष्यन्तीति भावः ।

इतीति—स दशग्रीवः रावणः मैथिलीमित्युक्त्वा मेदिनीं पृथिवीं कम्पयन् इव प्रस्थितः ।

हनुमानिति—विश्रान्तः अपनीतश्रमः हनुमान् सर्वं तत्त्वतः शुश्राव । ततोऽनन्तरं बहुविधाम् अनेकप्रकारां चिन्तां चिन्तयामास चकार ।

यामिति—यां सीतां कपीनां बहूनि सहस्राणि अयुतानि च सर्वासु दिक्षु मार्गन्ते सा इयं मया आसादिता प्राप्ता ।

अहमिति—अक्लिष्टकर्माणं क्लेशकारकक्रियारहितं स्वबन्धुं स्वस्याः सीतायाः बन्धुं प्रियं रामम् अनुकीर्तयन् अहं एनां सीतां आश्वासयामि आश्वासयिष्यामि ।

सोऽवतीर्य द्रुमात्तस्माद्विद्रुमप्रतिमाननः ।
विनीतवेषः कृपणः प्रणिपत्योपसृत्य च ॥ ७२ ॥
तामब्रवीन्महातेजा हनुमान् मारुतात्मजः ।
शिरस्यञ्जलिमाधाय सीतां मधुरया गिरा ॥ ७३ ॥
का त्वं भवसि कल्याणि त्वमनिन्दितलोचने ।
महिषी भूमिपालस्य राजकन्याऽसि मे मता ॥ ७४ ॥
रावणेन जनस्थानाद् बलादपहृता यदि ।
सीता त्वमसि भद्रं ते तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ७५ ॥
यथा हि तव वा दैन्यं रूपं चाप्यतिमानुषम् ।
तपसा चान्वितो वेषस्त्वं राममहिषी ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
सा तस्य वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता ।
उवाच वाक्यं वैदेही हनुमन्तं द्रुमाश्रितम् ॥ ७७ ॥
स्नुषा दशरथस्याहं शत्रुसैन्यप्रमाथिनः ।
दुहिता जनकस्याहं वैदेहस्य महात्मनः ॥
सीता च नाम नाम्नाऽहं भार्या रामस्य धीमतः ॥ ७८ ॥
वसतो दण्डकारण्ये तस्याहममितौजसः ।
रक्षसाऽपहृता भार्या रावणेन दुरात्मना ॥ ७९ ॥

स इति—विद्रुमप्रतिमं विद्रुमसदृशमाननं यस्य स हनूमान् शिरसि अञ्जलिमाधाय धृत्वा मधुरया गिरा अब्रवीत् । श्लोकद्वयमेकान्वयि ।

का इति—हे अनिन्दितलोचने त्वं का भवसि ? भूमिपालस्य निखिलब्रह्माण्डाधिपतेः रामस्य महिषी राजकन्या जनकराजपुत्री च मे मम मता निश्चिता असि ।

रावणेनेति—जनस्थानात् रावणेन बलाद् अपहृता सीता यदि त्वमसि तदा पृच्छते मे आचक्ष्व ।

यथेति—यथा यथावत् तव दैन्यं वियोगदुःखजनितदीनता अतिमानुषं मानुषानतिक्रान्तम् अत्यद्भुतमित्यर्थः तव रूपं च तपसा अन्वितस्तव वेषश्च अस्तीति शेषः अतस्त्वं राममहिष्येव ।

सा इति—सा सीता तस्य हनुमतो वचनं श्रुत्वा रामकीर्तनहर्षिता सती द्रुमाश्रितं हनूमन्तमुवाच ।

स्नुषेति—शत्रुसैन्यप्रमाथिनः दशरथस्याहं स्नुषा पुत्रबधूः, महात्मनो जनकस्याहं दुहिता पुत्री, नाम्नाहं सीता नाम सीतेति प्रसिद्धा, रामस्य भार्याहमस्मीति शेषः ।

वसत इति—दण्डकारण्ये वसतः तस्य रामस्य भार्याहं रक्षसापहृता ।

द्वौ मासौ तेन मे कालो जीवितानुग्रहः कृतः ।
ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां ततस्त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ ८० ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा हनुमान् हरियूथपः ।
दुःखाद्दुःखाभिभूतायाः सान्त्वमुत्तरमब्रवीत् ॥ ८१ ॥
अहं रामस्य सन्देशाद्देवि दूतस्तवागतः ।
वैदेहि कुशली रामस्त्वां च कौशलमब्रवीत् ॥ ८२ ॥
लक्ष्मणश्च महातेजा भर्तुस्तेऽनुचरः प्रियः ।
कृतवाञ्शोकसन्तप्तः शिरसा तेऽभिवादनम् ॥ ८३ ॥
सा तयोः कुशलं देवी निशम्य नरसिंहयोः ।
प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी हनुमन्तमथाब्रवीत् ॥ ८४ ॥
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥ ८५ ॥
क्व ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम् ।
वानराणां नराणां च कथमासीत् समागमः ॥ ८६ ॥

द्वाविति—तेन रक्षसा द्वौ मासौ मे जीवतानुग्रहः जीवनावधिरित्यर्थः कृतः । किंच द्वौ मासौ जीवितानुग्रहः कृतः अतः ततः ताभ्यां मासाभ्यामूर्ध्वं जीवितं त्यक्ष्यामि रामानागमने त्यक्तुमिच्छामि ।

तस्या इति—दुःखाभिभूतायाः तस्याः सीताया वचनं श्रुत्वा दुःखात् दुःखं प्राप्य हनूमान् सान्त्वं सान्त्वनमुत्तरमब्रवीत् ।

अहमिति—रामस्य दूतोऽहं सन्देशात् हेतोः तव समीपमुपागतः । ननु कः सन्देश इत्यत आह–वैदेहीति । हे वैदेहि, कुशली रामः त्वां कौशलमब्रवीत् अकथयत् किंच त्वा त्वत्कौशलमब्रवीत् अपृच्छत् ।

लक्ष्मण इति—लक्ष्मणोऽभिवादनं ते कृतवान् ।

सेति—सा सीता तयोः रामलक्ष्मणयोः कुशलं निशम्य प्रीतिसंहृष्टसर्वाङ्गी प्रीतिपुलकितसर्वाङ्गी सती हनुमन्तमब्रवीत् ॥

कल्याणीति—जीवन्तं नरं वर्षशतादपि आनन्दः एति प्राप्नोति इयं लौकिकी गाथा कल्याणी सत्येत्यर्थः ॥

क्वेति—ते तव रामेण संसर्गो भाषणादिसम्बन्धः क्व कस्मिन् देशेऽभवदिति शेषः । समागमः सङ्गमः कथमासीत् नरवानराचरणयोः परस्परं विरुद्धत्वात्संसर्गो न संभवतीति तात्पर्यम् ॥

यानि लिङ्गानि रामस्य लक्ष्मणस्य च वानर।
तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत् ॥ ८७ ॥
एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनुमान् मारुतात्मजः।
ततो रामं यथातत्त्वम् आख्यातुमुपचक्रमे ॥ ८८ ॥
रामः कमलपत्राक्षः सर्वभूतमनोहरः।
रूपदाक्षिण्यसंपन्नः प्रसूतो जनकात्मजे ॥ ८९ ॥
तेजसाऽऽदित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या यशसा वासवोपमः ॥ ९० ॥
रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ॥ ९१ ॥
सत्यधर्मपरः श्रीमान् संग्रहानुग्रहे रतः।
देशकालविभागज्ञः सर्वलोकप्रियंवदः ॥ ९२ ॥
भ्राताऽपि तस्य द्वैमात्रः सौमित्रिरपराजितः।
अनुरागेण रूपेण गुणैश्चैव तथाविधः ॥ ९३ ॥
तावुभौ नरशार्दूलौ त्वद्दर्शनसमुत्सुकौ।
विचिन्वन्तौ महीं कृत्स्नां अस्माभिरभिसङ्गतौ ॥ ९४ ॥

यानीति—लिङ्गानि चिह्नानि भूयः समाचक्ष्व कथयतीं मां शोको न समाविशेत्।

एवमिति—वैदेह्या एवमुक्तो हनुमान् रामं यथातत्त्वं याथार्थ्यमनतिक्रम्य आख्यातुं कथयितुमुपचक्रमे।

राम इति—रामः रूपदाक्षिण्याभ्यां संपन्नः सन्नेव प्रसूतः प्रादुर्भूतः। न तु प्रादुर्भूत्यनन्तरं रूपदाक्षिण्यं जातमित्यर्थः तेन तयोर्नित्यत्वं व्यञ्जितम्।

तेजसेति—तेजसा आदित्यसंकाशः सूर्यसमः यशसा वासवोपमः इन्द्रोपमः राम अस्तीति शेषः।

रक्षितेति—जीवन्ति जीवयन्तीति च व्युत्पत्त्या जीवशब्देन जीवेश्वरयोर्ग्रहणम्। लोका निखिलब्रह्माण्डानि समाहारद्वन्द्वः तस्य रक्षिता श्रुतिश्च 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्' इत्यादि। मर्यादानां लोकस्य कर्ता कारयिता च स राम इति भावः।

सत्येति—सत्य धर्मपरः, संग्रहानुग्रहेरतः संग्रहो धनबलादीनाम्, अनुग्रहस्ताभ्यां प्रजारक्षणम्, तदुभयनिष्ठः रामः अस्तीति शेषः।

भ्रातेति—तस्य रामस्य सौमित्रिर्भ्राता द्वैमात्रः राममात्रपेक्षया द्वितीयमातृजनित इत्यर्थः अनुरागादिभिस्तथाविधः रामसदृशः।

ताविति—त्वद्दर्शन समुत्सुकौ रामलक्ष्मणौ अत एव विचिन्वन्तौ सन्तौ अस्माभिरभिसङ्गतौ बभूवतुरिति शेषः ॥

ततस्त्वन्नाशजं शोकं रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
लक्ष्मणो वानरेन्द्राय सुग्रीवाय न्यवेदयत् ॥ ९५ ॥
ततस्त्वद्गात्रशोभीनि रक्षसा ह्रियमाणया ।
यान्याभरणजालानि पातितानि महीतले ॥
तानि रामाय दत्तानि मयैवोपहृतानि च ॥ ९६ ॥
तान्यङ्के दर्शनीयानि कृत्वा बहुविधं तव ।
तेन देवप्रकाशेन देवेन परिदेवितम् ॥ ९७ ॥
स त्वां मनुजशार्दूलः क्षिप्रं प्राप्स्यति राघवः ।
समित्रबान्धवं हत्वा रावणं जनकात्मजे ॥ ९८ ॥
सहितौ रामसुग्रीवावुभावकुरुतां तदा ।
समयं वालिनं हन्तुं तव चान्वेषणं तथा ॥ ९९ ॥
ततो निहत्य तरसा रामो वालिनमाहवे ।
सर्वर्क्षहरिसङ्घानां सुग्रीवमकरोत् पतिम् ॥ १०० ॥
रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत ।
हनुमन्तं च मां विद्धि तयोर्दूतमिहागतम् ॥ १०१ ॥
स्वराज्यं प्राप्य सुग्रीवः समानीय महाकपीन् ।
त्वदर्थं प्रेषयामास दिशो दश महाबलान् ॥ १०२ ॥

तत इति—ततः सुग्रीववृत्तान्त श्रवणानन्तरं त्वन्नाशजं त्वददर्शनजनितं रामस्य शोकं लक्ष्मणः सुग्रीवाय न्यवेदयत् ।

तत इति—रक्षसा ह्रियमाणया त्वया यान्याभरणजालानि पातितानि तानि रामाय दत्तानि वानरैरितिशेषः, मयैवोपहृतानि प्रथममिति शेषः ।

तानीति—तानि आभरणानि अङ्के कृत्वा तेन देवप्रकाशेन देवतावतारेण अत एव देवेन रामेन बहुविधं परिदेवितम् ।

स इति—स राघवः रावणं हत्वा त्वां क्षिप्रं शीघ्रं प्राप्स्यति ।

सहिताविति—सहितौ एकीभूतौ उभौ रामसुग्रीवौ बालिन हन्तुं तवान्वेषणं कर्तुं च समयं प्रतिज्ञाम् अकुरुताम् ।

तत इति—रामः बालिनं निहत्य सुग्रीवं निखिलऋक्षादीनां पतिमकरोत् ।

रामेति—एवमुक्तप्रकारेण रामसुग्रीवयोः ऐक्यं सख्यं समजायत । मां तु तयोर्दूतं हनुमन्तं विद्धि जानीहि ।

स्वराज्यमिति—सुग्रीवः स्व-राज्यं प्राप्य अत एव महाकपीन् समानीय त्वदर्थं प्रेषयामास ।

आदिष्टा वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण वनौकसः ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वयमन्ये च वानराः ॥ १०३ ॥
विश्वासार्थं तु वैदेहि भर्तुरुक्ता मया गुणाः ।
अचिराद्राघवो देवि त्वामितो नयिताऽनघे ॥ १०४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं समाश्वसिहि मैथिलि ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ १०५ ॥
प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना ।
समाश्वसिहि भद्रं ते क्षीणदुःखफला ह्यसि ॥ १०६ ॥
गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषणम् ।
भर्तारमिव संप्राप्ता जानकी मुदिताऽभवत् ॥ १०७ ॥
ततः सा ह्रीमती बाला भर्तृसन्देशहर्षिता ।
परितुष्टा प्रियं कृत्वा प्रशशंस महाकपिम् ॥ १०८ ॥
विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम ।
येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रधर्षितम् ॥ १०९ ॥
दिष्ट्या स कुशली रामो धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।
लक्ष्मणश्च महातेजाः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ११० ॥

आदिष्टा इति—वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण आदिष्टा वनौकसः कृत्स्नां वसुधां चरन्ति । वयं चरामः अन्ये वानराः च चरन्तीति शेषः ।

विश्वासार्थमिति—हे वैदेहि, मया तव विश्वासार्थं भर्तुर्गुणा उक्ताः । हे अनघे निष्पापे, अचिरात् शीघ्रं राघवस्त्वामितो नयिता नेता ।

एतदिति—हे मैथिलि, एतत् भवत्या पृष्टं सर्वमाख्यातम् अतः समाश्वसिहि धीरा भव । देवि इदं रामनामाङ्कितम् अङ्गुलीयकं च पश्य ।

प्रत्ययार्थमिति—तव प्रत्ययार्थं विश्वासार्थं तेन महात्मना रामेण दत्तम् अङ्गुलीयकमिति शेषः आनीतं मयेति शेषः । अत एव क्षीणः दुःखफलः दुःखफलकः समयो यस्याः सा त्वमसि अत एव समाश्वसिहि ।

गृहीत्वेति—भर्तुः करविभूषणं गृहीत्वा भर्तारं संप्राप्तेव जानकी मुदिता अभवत् ।

तत इति—ततोऽनन्तरं भर्तुः सन्देशेन हर्षिता सा सीता महाकपिं हनुमन्तं प्रियं प्रीतिविषयीभूतं कृत्वा प्रशशंस ।

विक्रान्त इति—येन हेतुना एकेन त्वया राक्षसपदं प्रधर्षितं तेन हेतुना विक्रान्तत्वादिविशिष्टस्त्वं मयाऽबोधीति शेषः ।

दिष्ट्येति—कुशली कुशलविशिष्टः ।

कुशली यदि काकुत्स्थः किं न सागरमेखलाम्।
महीं दहति कोपेन युगान्ताग्निरिवोत्थितः ॥ १११ ॥
अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे।
ममैव तु न दुःखानाम् अस्ति मन्ये विपर्ययः ॥ ११२ ॥
कच्चिन्न व्यथितो रामः कच्चिन्न परितप्यते।
उत्तराणि च कार्याणि कुरुते पुरुषोत्तमः ॥ ११३ ॥
कच्चिन्न विगतस्नेहः विवासान्मयि राघवः।
कच्चिन्मां व्यसनादस्मात् मोक्षयिष्यति वानर ॥ ११४ ॥
सीताया वचनं श्रुत्वा मारुतिर्भीमविक्रमः।
शिरस्यञ्जलिमाधाय वाक्यमुत्तरमब्रवीत् ॥ ११५ ॥
न त्वामिहस्थां जानीते रामः कमललोचने।
तेन त्वां नानयत्याशु शचीमिव पुरन्दरः ॥ ११६ ॥
श्रुत्वैव तु वचो मह्यं क्षिप्रमेष्यति राघवः।
चमूं प्रकर्षन् महतीं हर्यृक्षगणसंकुलाम् ॥ ११७ ॥
विष्टम्भयित्वा बाणौघैरक्षोभ्यं वरुणालयम्।
करिष्यति पुरीं लङ्कां काकुत्स्थः शान्तराक्षसाम् ॥ ११८ ॥

कुशलीति—यदि काकुत्स्थः कुशली तर्हि कोपेन ज्ञातपृथिव्यपराधजनितक्रोधेन महीं किं नु न दहति दहत्येवेत्यर्थः। एतेन एवं शक्तिसत्त्वे रावणं कुतो न निहन्तीति सूचितम्। किं च कोपेन रावणापराधजनितक्रोधेन महीं लङ्काभूमिं किं नु दहति।

अथवेति—अथवेति पक्षान्तरे सुराणामपि निग्रहे शक्तिमन्तौ तौ रामलक्ष्मणौ स्त एव तथापि मम दुःखानां विपर्ययो विनाशकालो नैवास्तीत्यहं मन्ये।

कच्चिदिति—रामः कच्चिन्न व्यथितः कच्चिन्न परितप्यते वा अत एव कार्याणि कर्तव्यानि उत्तराणि दुःखोत्तारकाणि प्रयत्नानि कुरुते।

कच्चिदिति—विवासात् हेतोः राघवः मयि विगतस्नेहो न कच्चित् अस्माद् व्यसनात् दुःखहेतुभूतनिरोधात् मोक्षयिष्यति मोचयिष्यति।

सीताया इति—मारुतिः सीताया वचनं श्रुत्वा अञ्जलिं शिरसि आधाय उत्तरं श्रेष्ठं वाक्यमब्रवीत्।

नेति—इहस्थां त्वां रामो न जानीते तेन हेतुना शचीं पुरन्दर इव त्वामाशु नानयति।

श्रुत्वेति—मह्यं मम वचः श्रुत्वा एव राघवः एष्यति।

विष्टम्भयित्वेति—करुणालयं समुद्रं विष्टम्भयित्वा विष्टभ्य संस्तभ्य सेतुं बध्द्वेत्यर्थः लङ्कां बाणौघैः शान्तराक्षसां करिष्यति।

तवादर्शनजेनार्ये शोकेन स परिप्लुतः ।
न शर्म लभते रामः सिंहार्दित इव द्विपः ॥ ११९ ॥
अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः ।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते ॥ १२० ॥
अभिज्ञानं प्रयच्छ त्वं जानीयाद्राघवो हि यत् ।
ब्रूहि यद्राघवो वाच्यो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ १२१ ॥
इत्युक्तवति तस्मिंश्च सीता सुरसुतोपमा ।
उवाच शोकसन्तप्ता हनुमन्तं प्लवङ्गमम् ॥ १२२ ॥
कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी ।
तं ममार्थे सुखं पृच्छ शिरसा चाभिवादय ॥ १२३ ॥
वृद्धोपसेवी लक्ष्मीवान् शक्तो न बहुभाषिता ।
राजपुत्रप्रियः श्रेष्ठः सदृशः श्वशुरस्य मे ॥ १२४ ॥
मत्तः प्रियतरो नित्यं भ्राता रामस्य लक्ष्मणः ।
यं दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरेत् ॥ १२५ ॥
स ममार्थाय कुशलं वक्तव्यो वचनान्मम ।
मृदुर्नित्यं शुचिर्दक्षः प्रियो रामस्य लक्ष्मणः ॥ १२६ ॥
यथा हि वानरश्रेष्ठ दुःखक्षयकरो भवेत् ।
त्वदस्मिन् कार्यनिर्योगे प्रमाणं हरिसत्तम ॥ १२७ ॥

तवेति—शोकेन परिप्लुतः परिपूरितः स रामः शर्म न लभते ।

अनिद्र इति—अनिद्रः प्रायेण निद्रारहितः रामः सुप्तः कथंचित् किञ्चित्स्वापं प्राप्तोऽपि सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् सन् प्रतिबुध्यते ।

अभिज्ञानमिति—यत् यतः राघवो जानीयात् मत्कर्तृकत्वद्दर्शनं बुध्येत तदभिज्ञानं चिह्नं त्वं प्रयच्छ । राघवः यद्वाच्यः तद्ब्रूहि वद ।

इतीति—तस्मिन् हनुमति इति उक्तवति सति सीता हनुमन्तमुवाच ।

कौसल्येति—कौसल्या यं सुषुवे तं ममार्थे उद्युक्तमिति शेषः रामं सुखं पृच्छ अभिवादय च ।

वृद्धेति—शक्तः समर्थोऽपि बहुभाषिता न मितभाषीत्यर्थः यो राजपुत्रस्य रामस्य प्रियः । मे मम श्वशुरस्य सदृशः च ।

मत्त इति—मत्तः ममापीत्यर्थः, प्रियतरः अत्यन्तं प्रियः लक्ष्मणः अस्तीति शेषः । यं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः वृत्तं पितृनिर्याणादि नैव अनुस्मरेत् । स लक्ष्मणः ममार्थाय कुशलं वक्तव्यः ।

मृदुरिति—दुःखक्षयकरः दुःखनाशकः भवेत् लक्ष्मणः इति शेषः, हे हरिसत्तम, अस्मिन् कार्यनिर्योगे निर्वाहे त्वं प्रमाणम् ।

राघवस्त्वत्समारम्भान्मयि यत्नपरो भवेत ।
इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः ॥ १२८ ॥
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ।
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते ॥ १२९ ॥
ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूड़ामणिं शुभम ।
प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ ॥ १३० ॥
मणिरत्नं कपिवरः प्रतिगृह्याभिवाद्य च ।
हृदयेन गतो रामं शरीरेण तु विष्ठितः ॥ १३१ ॥
तस्माद्देशादपक्रम्य चिन्तयामास वानरः ।
अल्पशेषमिदं कार्यं दृष्टेयमसितेक्षणा ।
त्रीनुपायानतिक्रम्य चतुर्थ इह दृश्यते ॥ १३२ ॥
कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत ।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति ॥ १३३ ॥
न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः ।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने ॥ १३४ ॥

राघव इति—त्वत्समारम्भात् त्वदुत्साहनात् राघवः मयि यत्नपरो भवेत अतः मे मम नाथं रामं पुनः पुनः इदं वक्ष्यमाणं ब्रूयाः ब्रूहि ।

जीवितमिति—हे दशरथात्मज, मासम् अवधिभूतमासपर्यन्तं जीवितं धारयिष्यामि । मासात् ऊर्ध्वं न जीवेयम् इति सत्येन सत्यं ते अहं ब्रवीमि ।

तत इति—ततोऽनन्तरं वस्त्रगतं दिव्यं चूडामणिं शिरोरत्नं मुक्त्वा उन्मुच्य राघवाय प्रदेय इत्युक्त्वा इति शेषः, हनुमते ददौ ।

मणिरत्नमिति—कपिवरो हनुमान् मणिरत्नं मणिश्रेष्ठं प्रतिगृह्य स्वीकृत्य अभिवाद्य च सीतामिति शेषः, हृदयेन मनसा रामं गतः शरीरेण तु विष्ठितः तत्र स्थितः आसीत् इति शेषः ।

तस्मादिति—वानरः हनुमान् तस्माद्देशाद् अपक्रम्य निर्गत्य चिन्तयामास । इयं सीता दृष्टा प्रधानकार्यं सिद्धमित्यर्थः । इदं परबलदर्शनरूपं कार्यमल्पशेषं स्वल्पं सत् शिष्यते, इह परबलदर्शनरूपकार्ये तु यतः त्रीन् सामादीन् उपायान् अतिक्रम्य चतुर्थो दण्ड एव उपायः दृश्यते ।

कार्ये इति—कार्ये स्वाम्याज्ञप्तकर्तव्ये कर्मणि निर्दिष्टे निश्चिते सति यो बहूनि निश्चितकार्यपोषकतया विपुलकार्याणि साधयेत् साधयितुमिच्छेत् स पूर्वकार्याविरोधेन नियतकार्यप्रातिकूल्यराहित्येन कार्यं कर्तुमर्हति ।

नेति—स्वल्पस्यापि कर्मणः रामकार्यस्य सीताप्राप्तेरित्यर्थः, साधको हेतुरेकः एव न बहवः सन्तीत्यर्थः सीतादर्शनमात्रेण रामकार्यसिद्धिर्न भवतीति तात्पर्यम्

इदमस्य नृशंसस्य नन्दनोपममुत्तमम् ।
वनं विध्वंसयिष्यामि शुष्कं वनमिवानलः ।
अस्मिन् भग्ने ततः कोपं करिष्यति दशाननः ॥ १३५ ॥
ततस्तु हनुमान् वीरो बभञ्ज प्रमदावनम् ।
चकार सुमहद्रूपं राक्षसीनां भयावहम् ॥ १३६ ॥
ततस्तं गिरिसंकाशं राक्षस्यो विकृताननाः ।
विरूपं वानरं भीममाख्यातुमुपचक्रमुः ॥ १३७ ॥
अशोकवनिकामध्ये राजन् भीमवपुः कपिः ।
सीतया कृतसंवादस्तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥ १३८ ॥
तेन त्वद्भुतरूपेण यत्तत्तव मनोहरम् ।
नानामृगगणाकीर्णं प्रमृष्टं प्रमदावनम् ॥ १३९ ॥
न तत्र कश्चिदुद्देशो यस्तेन न विनाशितः ।
यत्र सा जानकी सीता न स तेन विनाशितः ।
जानकीरक्षणार्थं वा श्रमाद्वा नोपलक्ष्यते ॥ १४० ॥
राक्षसीनां वचः श्रुत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ।
आत्मनः सदृशान् शूरान् किंकरान् नाम राक्षसान् ॥
व्यादिदेश महातेजा निग्रहार्थं हनूमतः ॥ १४१ ॥

अतः अर्थं रामकार्यसाधकहेतुं बहुधा बहुप्रकारेण यो वेद स एव अर्थसाधने समर्थः

इदमिति—अस्य नृशंसस्य क्रूरस्य रावणस्य इदं वनं नन्दनोपमम् उत्तमं चास्तीति शेषः । इदम् उक्तं वनं शुष्कं वनं अनल इव अग्निरिव विध्वंसयिष्यामि । अस्मिन् भग्ने सति दशाननः रावणः कोपं करिष्यति ।

तत इति—ततोऽनन्तरं प्रमदाकुलवनिकां बभञ्ज । राक्षसीनां भयावहं भयंकरं रूपं चकार हनुमानिति शेषः ।

ततस्तमिति—ततोऽनन्तरं गिरिसंकाशं पर्वतसदृशं विरूपं वानरं विकृताननाः भयेन हेतुनेत्यर्थः राक्षस्यः आख्यातुं वर्णयितुमुपचक्रमुः ।

अशोकेति—सीतया कृतः संवादो येन सोऽमितविक्रमः कपिः तिष्ठति ।

तेनेति—यत् तव प्रमदावनं तत् तेन वानरेण प्रमृष्टं विध्वंसितम् ।

नेति—तेन वानरेण यः कश्चिदुद्देशः स्थलं न विनाशितः स तत्र वनिकायां नास्ति, यत्र देशे सा जानकी स देशस्तु तेन न विनाशितः । सीताधिकृतदेशः तेन जानकीरक्षणार्थं सीतारक्षणार्थं न विनाशितः अथवा श्रमात् न विनाशित इति नोपलक्ष्यते न निश्चीयते ।

राक्षसीनामिति—राक्षसीनां वचः श्रुत्वा हनूमतो निग्रहार्थं किंकरान् नाम किंकरनामकान् राक्षसान् रावणः व्यादिदेश आज्ञापयामास ।

ते गदाभिर्विचित्राभिः परिघैः काञ्चनाङ्गदैः ।
आजघ्नुर्वानरश्रेष्ठं शरैश्चादित्यसंनिभैः ॥ १४२ ॥
ततः स किङ्करान् हत्वा हनुमान् दर्शयन् बलम् ।
चैत्यप्रासादमुत्प्लुत्य मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ।
धृष्टमास्फोटयामास लङ्कां शब्देन पूरयन् ॥ १४३ ॥
अस्त्रविज्जयतां रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ १४४ ॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
हनुमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ॥ १४५ ॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कां अभिवाद्य च मैथिलीम् ।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ १४६ ॥
एवमुक्त्वा महाबाहुश्चैत्यस्थो हरियूथपः ।
ननाद भीमनिर्ह्रादो रक्षसां जनयन् भयम् ॥ १४७ ॥
ततस्तैः स्वगणैरिष्टैरिन्द्रजित् प्रतिपूजितः ।
स रथी धन्विनां श्रेष्ठः शस्त्रज्ञोऽस्त्रविदांवरः ॥
हनूमन्तमभिप्रेत्य जगाम रणपण्डितः ॥ १४८ ॥

त इति—ते किंकराः । गदाभिः काञ्चनाङ्गदैः काञ्चनपट्टबद्धैः परिघैश्च शरैश्च आजघ्नुः ।

तत इति—स हनुमान् बलं दर्शयन् चैत्यप्रासादम् उत्प्लुत्य धृष्टं निर्भयं आस्फोटयामास विदारयामास ।

अस्त्रविदिति—अस्त्रविद् रामः जयताम्, महाबलः लक्ष्मणश्च जयताम् । राघवेणाभिपालितः सुग्रीवो जयति ।

दास इति—अहं रामस्य दासः शत्रुसैन्यानां निहन्ता च अस्मि, रावण-सहस्रमपि मे मम युद्धे प्रतिबलं न भवेत् ।

अर्दयित्वेति—लङ्काम् अर्दयित्वा धर्षयित्वा समृद्धार्थो सफलमनोरथः गमिष्यामि ।

एवमिति—एवं पूर्वोक्तम् उक्त्वा चैत्यस्थः हनुमान् रक्षसां भयं जनयन् सन् ननाद ।

तत इति—स्वगणैः प्रतिपूजितः समादृतः स रथी रणपंडितः इन्द्रजित् मेघनादः हनूमन्तमभिप्रेत्य जगाम ।

तावुभौ वेगसम्पन्नौ रणकर्मविशारदौ ।
सर्वभूतमनोग्राहि चक्रतुर्युद्धमुत्तमम् ॥ १४६ ॥
ततः पैतामहं वीरः सोऽस्त्रमस्त्रविदां वरः ।
सन्दधे सुमहातेजास्तं हरिप्रवरं प्रति ॥ १५० ॥
तेन बद्धस्ततोऽस्त्रेण राक्षसेन स वानरः ।
अभवन्निर्विचेष्टश्च पपात च महीतले ॥ १५१ ॥
तं मत्तमिव मातङ्गं बद्धं कपिवरोत्तमम् ।
राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन् ॥ १५२ ॥
स तैः संपीड्यमानोऽपि रक्षोभिर्भीमविक्रमैः ।
विस्मयं परमं गत्वा रक्षोधिपमवैक्षत ॥ १५३ ॥
भ्राजमानं ततो दृष्ट्वा हनुमान् राक्षसेश्वरम् ।
मनसा चिन्तयामास तेजसा तस्य मोहितः ॥ १५४ ॥
अहो रूपमहो धैर्यम् अहो सत्त्वमहो द्युतिः ।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता ॥ १५५ ॥
यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः ।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥ १५६ ॥
तं समीक्ष्य महासत्त्वं सत्त्ववान् हरिसत्तमः ।
वाक्यमर्थवदव्यग्रस्तमुवाच दशाननम् ॥ १५७ ॥

तावितिं—तौ हनूमदिन्द्रजितौ सर्वभूतमनोग्राहि निखिलप्राणिहृदयापकर्षकं युद्धं चक्रतुः ।

तत इति—सुमहातेजाः इन्द्रजित् हरिप्रवरं प्रति पैतामहमस्त्रं सन्दधे ब्रह्मास्त्र-सन्धानमकरोत् ।

तेनेति—राक्षसेन अस्त्रेण करणेन बद्धो वानरः निर्विचेष्टोऽभवत्, अत एव महीतले पपात च ।

तमिति—राक्षसाः बद्धं कपिवरं रावणाय न्यवेदयन् ।

स इति—तैः रक्षोभिः संपीड्यमानोऽपि स हनुमान् विस्मयं गत्वा रक्षोधिपमवैक्षत ।

भ्राजमानमिति—भ्राजमान राक्षसेश्वरं दृष्ट्वा तस्य राक्षसेश्वरस्य तेजसा मोहितः कर्तव्यविषयकविवेकरहितो हनुमान् चिन्तयामास ।

अहो इति—राक्षसराजस्य रूपादिसर्वलक्षणयुक्तता च अहो आश्चर्यम् ।

यदीति—अयं राक्षसेश्वरः यदि अधर्मः धर्मविरोधी न स्यात् तर्हि सुरलोकस्यापि रक्षिता स्यात् ।

तमिति—महासत्त्वं तं रावणं समीक्ष्य अर्थवत् सप्रयोजनं वाक्यं हरिसत्तमो हनुमानुवाच ।

अहं तु हनुमान नाम मारुतस्यौरसः सुतः ।
सीतायास्तु कृते तूर्णं शतयोजनमायतम् ।
समुद्रं लङ्घयित्वैव तां दिदृक्षुरिहागतः ॥ १५८ ॥
भ्रमता च मया दृष्टा गृहे ते जनकात्मजा ।
तद्भवान् दृष्टधर्मार्थस्तपःकृतपरिग्रहः ।
परदारान् महाप्राज्ञ नोपरोद्धुं त्वमर्हसि ॥ १५९ ॥
न हि धर्मविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ १६० ॥
तत त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुबन्धि च ।
मन्यस्व नरदेवाय जानकी प्रतिदीयताम् ॥ १६१ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा वानरस्य महात्मनः ।
आज्ञापयद्वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १६२ ॥
वधे तस्य समाज्ञप्ते रावणेन दुरात्मना ।
निवेदितवतो दौत्यं नानुमेने विभीषणः ॥ १६३ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दशग्रीवो महात्मनः ।
देशकालहितं वाक्यं भ्रातुरुत्तरमब्रवीत् ॥ १६४ ॥

अहमिति—मारुतस्य औरसः मुख्यः सुतः हनुमान्नामाहं तु सीतायाः कृते सीतार्थं शतयोजनमायतं समुद्रं लंघयित्वा तां सीतां दिदृक्षुः सन् इह लङ्कायामागतः ।

भ्रमतेति—मया भ्रमता ते गृहे जनकात्मजा दृष्टा । दृष्टौ साक्षात्कृतौ धर्मार्थौ येन सः तपसा कृतः परिग्रहः धनादिसंग्रहो येन सः अत एव भवान पूज्यस्त्वं परदारान् उपरोद्धुं नार्हसि ।

नहीति—धर्मविरुद्धेषुधर्मशास्त्रविरुद्धेषु अत एव बह्वपायेषु विपुलापाय-संपादकेषु अत एव मूलघातिषु कर्मसु भवद्विधा बुद्धिमन्तो न सज्जन्ते ।

तदिति—तत् उक्तहेतोः त्रिकालहितं सर्वकाले हितकारकं धर्म्यं धर्मादनपेतम् अर्थानुबन्धि अर्थानुयायि वाक्यं मन्यस्व अत एव नरदेवाय रामाय जानकी प्रतिदीयताम् ।

तस्येति—तस्य हनूमतः वचनं श्रुत्वा क्रोधमूर्च्छितो रावणः तस्य हनुमतो वधमाज्ञापयत् ।

वध इति—रावणेन वधे समाज्ञप्ते सति दौत्यं स्वनिष्ठदूतधर्मं निवेदितवतो हनूमतः वधे विभीषणो नानुमेने न अनुमतिं चकार । वध इत्युभयान्वयि ।

तस्येति—महात्मनो विभीषणस्य वचनं श्रुत्वा देशकालहितमुत्तरं वाक्यमब्रवीत् ।

कपीनां किल लाङ्गूलमिष्टं भवति भूषणम् ।
तदस्य दीप्यतां शीघ्रं तेन दग्धेन गच्छतु ॥ १६५ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः ।
वेष्टयन्तिस्म लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासजैः पटैः ॥
तैलेन परिषिच्याथ तेऽग्निं तत्राभ्यपातयन् ॥ १६६ ॥
लाङ्गूलं संप्रदीप्तं तद् द्रष्टुं तस्य हनूमतः ।
सहस्त्रीबालवृद्धाश्च जग्मुः प्रीतिं निशाचराः ॥ १६७ ॥
वीक्षमाणस्ततो लङ्कां कपिः कृतमनोरथः ।
वर्धमानसमुत्साहः कार्यशेषमचिन्तयत् ॥ १६८ ॥
वनं तावत् प्रमथितं प्रकृष्टा राक्षसा हताः ।
बलैकदेशः क्षपितः शेषं दुर्गविनाशनम् ॥ १६९ ॥
दुर्गे विनाशिते कर्म भवेत् सुखपरिश्रमम् ।
अल्पयत्नेन कार्येऽस्मिन् मम स्यात् सफलः श्रमः ॥ १७० ॥
यो ह्ययं मम लाङ्गूले दीप्यते हव्यवाहनः ।
अस्य सन्तर्पणं न्याय्यं कर्तुमेभिर्गृहोत्तमैः ॥ १७१ ॥

कपीनामिति—लाङ्गूलं कपीनां भूषणम् अत एव इष्टं भवति । अतः अस्य तत् लाङ्गूलं दीप्यतां दग्धेन लाङ्गूलेन विष्टः सन् गच्छतु ।

तस्येति—तस्य रावणस्य वचनं श्रुत्वा कोपकर्कशाः अतिकोपवन्तो राक्षसाः तस्य हनूमतो लाङ्गूलं कार्पासजैः कार्पासोपादानकः पटैः वेष्टयन्ति स्म । अथ अनन्तरं तैलेन परिषिच्य अभिषिच्य तत्र लाङ्गूले अग्निम् अभ्यपातयन् ददुरित्यर्थः ।

लाङ्गूलमिति—तस्य हनूमतः संप्रदीप्तं लाङ्गूलं द्रष्टुं सहस्त्रीबालवृद्धाः निशाचराः जग्मुः ते च दृष्ट्वा प्रीतिं जग्मुरित्युभयान्वयि ।

वीक्षमाण इति—वर्धमानः समुत्साहो यस्य स हनूमान् कार्यशेषम् अवशिष्टकृत्यम् अचिन्तयत् ।

वनमिति—प्रकृष्टाः बलवन्तः राक्षसाः हताः बलैकदेशः सेनायाः कश्चिदंशः क्षपितः विनाशितश्च अतः दुर्गविनाशमेव शेषं पश्यामीति शेषः ।

दुर्ग इति—दुर्गे विनाशिते सति कर्म मम क्रिया सुखं सुखरूपः परिश्रमो यस्मिन् तत् भवेत् अतः अल्पयत्नेन साध्ये अस्मिन् दुर्गविनाशनरूपे कार्ये निष्पन्ने सतीति शेषः, मम श्रमः सफलः स्यात् ।

य इति—मम लाङ्गूले दीप्यते प्रकाशते यो हव्यवाहनो वह्निः अस्य संतर्पणमेभिर्गृहोत्तमैः कर्तुं न्याय्यम् ।

ततः प्रदीप्तलाङ्गूलः सविद्युदिव तोयदः ।
भवनाग्रेषु लङ्काया विचचार महाकपिः ॥ १७२ ॥
गृहाद्गृहं राक्षसानामुद्यानानि च वानरः ।
वीक्षमाणो ह्यसन्त्रस्तः प्रासादांश्च चचार सः ॥ १७३ ॥
लङ्कां समस्तां सन्दीप्य लाङ्गूलाग्निं महाबलः ।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिसत्तमः ॥ १७४ ॥
ततस्तां शिंशुपामूले जानकीं पर्यवास्थिताम ।
गमनाय मतिं कृत्वा वैदेहीमभ्यवादयत ॥ १७५ ॥
स लिलङ्घयिषुर्भीमं सलीलं लवणार्णवम् ।
कल्लोलास्फालवेलान्तमुत्पपात नभो हरिः ।
निपपात महेन्द्रस्य शिखरे पादपाकुले ॥ १७६ ॥
ततस्ते प्रीतमनसः सर्वे वानरपुङ्गवाः ।
हनूमन्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ १७७ ॥
प्रहृष्टवदनाः सर्वे तमरोगमुपागतम् ॥
उपायनानि चादाय मूलानि च फलानि च ।
प्रत्यर्चयन् हरिश्रेष्ठं हरयो मारुतात्मजम् ॥ १७८ ॥

तत इति—सविद्युत् तोयदो मेघ इव लङ्काया भवनाग्रेषु विचचार महाकपिः हनुमान् ।

गृहादिति—राक्षसानां गृहात् उन्नतभवनात् गृहम् उद्यानानि गृहारामांश्च वीक्षमाणो हनूमान् प्रासादान् चचार ।

लङ्कामिति—समस्तां लङ्कां संपीड्य हरिसत्तमः वानरश्रेष्ठः हनुमान् लाङ्गलाग्निं समुद्रे निर्वापयामास ।

तत इति—ततोऽनन्तरं गमनाय मतिं विचारं कृत्वा शिंशुपामूले पर्यवस्थितां जानकीं अभ्यवादयत् नमश्चकार हनुमानिति शेषः ।

स इति—कल्लोलास्फालवेलान्तं तरङ्गैः स्फालिततीरोपान्तं भीमं लवणार्णवं सलीलं लीलापूर्वकं लिलङ्घयिषुः हरिः स हनूमान् नभ उत्पात । महेन्द्रस्य तदाख्यस्य पर्वतस्य पादपाकुले तरुसंकुलेशिखरे निपपात च ।

तत इति—सर्वे वानरपुङ्गवाः हनूमन्तं परिवार्य उपतस्थिरे । अरोगं कुशलपूर्वकं तम् उपागतं हरिश्रेष्ठं फलादीन्युपायनान्यादाय हरयः वानराः प्रतिपूजितवन्तः । सार्धश्लोकद्वयमेकान्वयि ।

हनूमांस्तु गुरून् वृद्धान् जाम्बवत्प्रमुखांस्तदा ।
कुमारमङ्गदं चैव सोऽवन्दत महाकपिः ॥ १७६ ॥
हनूमानब्रवीद्धृष्टस्तदा तान् वानरर्षभान् ।
अशोकवनिकासंस्था दृष्टा सा जनकात्मजा ।
रक्ष्यमाणा सुघोराभी राक्षसीभिरनिन्दिता ॥ १८० ॥
सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता ।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता ॥ १८१ ॥
प्रतिमन्तस्ततः सर्वे वायुपुत्रपुरस्सराः ।
महेन्द्राद्रिं परित्यज्य पुप्लुवुः प्लवगर्षभाः ॥ १८२ ॥
प्लवमानाः खमुत्पत्य ततस्ते काननौकसः ।
निपेतुर्हरिराजस्य समीपे राघवस्य च ॥ १८३ ॥
हनूमांश्च महाबाहुः प्रणम्य शिरसा ततः ।
नियतामक्षतां देवीं राघवाय न्यवेदयत् ॥ १८४ ॥
तत्र लङ्केति नगरी रावणस्य दुरात्मनः ।
दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे वसति दक्षिणे ॥ १८५ ॥
तत्र सीता मया दृष्टा रावणान्तःपुरे सती ।
संन्यस्य त्वयि जीवन्ती रामा राममनोरथम् ॥ १८६ ॥

हनूमानिति—हनूमान् जाम्बवत्प्रमुखान् अवन्दत ।

हनूमानब्रवीदिति—हृष्टः प्रसन्नः हनूमान् सुघोराभिः राक्षसीभिः रक्ष्यमाणा अनिन्दिता निन्दासंसर्गरहिता अशोकवनिकासंस्था जनकात्मजा मया दृष्टेति वानरर्षभान् अब्रवीत ।

सेति—प्रकृत्यैव स्वभावेनैव तन्वङ्गी सीता तद्वियोगात् रामवियोगजदुःखात् कर्शिता अतिकृशत्वं प्राप्ता अत एव प्रतिपत्पाठशीलस्य जनस्य विद्येव तनुतां गता ।

प्रीतिमन्त इति—ततोऽनन्तरं वायुपुत्रपुरःसराः प्रीतिमन्तः सर्वे वानरा महेन्द्राद्रिं महेन्द्रपर्वतं परित्यज्य त्यक्त्वा पुप्लुवुः जग्मुः ।

प्लवमाना इति—प्लवमाना उत्प्लुत्य गच्छन्तः ते काननौकसः वानराः हरिराजस्य सुग्रीवस्य राघवस्य च समीपे निपेतुः

हनूमानिति—हनूमान् प्रणम्य नियतां यतचित्ताम् अक्षतां विनाशरहितां देवीं सीतां राघवाय न्यवेदयत् ।

तत्रेति—तत्र प्रसिद्धे दक्षिणस्य समुद्रस्य तीरे रावणस्य लङ्केति नगरी वसति अस्ति ।

तत्र सीतेति—तत्र लङ्कायां रावणान्तःपुरे, त्वयि रामे मनोरथं संन्यस्य जीवन्ती सती रामा सीता मया दृष्टा ।

सा मया नरशार्दूल विश्वासमुपपादिता।
रामसुग्रीवसख्यं च श्रुत्वा प्रीतिमुपागता॥ १८७॥
अभिज्ञानं च मे दत्तं यथावृत्तं तवान्तिके।
चित्रकूटे महाप्राज्ञ वायसं प्रति राघव॥ १८८॥
अयं चास्मै प्रदातव्यो यत्नात् सुपरिरक्षितः।
एष निर्यातितः श्रीमान् मया ते वारिसंभवः॥ १८९॥
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज।
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता॥
इति मामब्रवीत् सीता कृशाङ्गी वरवर्णिनी॥ १९०॥
एवमुक्तो हनुमता रामो दशरथात्मजः।
तं तु दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं राघवः शोककर्शितः॥
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥ १९१॥
अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः।
अस्याद्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये॥ १९२॥
चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति।
न जीवेयं क्षणमपि विना तामसितेक्षणाम्॥ १९३॥
नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया।
न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च॥ १९४॥

सेति—हे नरशार्दूल राम, सा मार्गिता सीता मया विश्वासमुपपादिता विश्वासं प्रापिता च तथा राम सुग्रीवसख्यं रामस्यसुग्रीवस्य च मैत्रीं श्रुत्वा प्रीतिं प्रसन्नताम् उपागता प्राप्ता।

अभिज्ञानमिति—चित्रकूटे वायसं जयन्तं प्रति तवान्तिके यद् वृत्तं वृत्तान्तं तदभिज्ञानं मत् संवादचिह्नं मे मह्यं दत्तं कथितमित्यर्थः।

अयमिति—अयं सुपरिरक्षितः वारिसंभवः मया सीतया ते तुभ्यं निर्यातितः दत्तः श्रीमान् मणिः अस्मै रामाय प्रदातव्यः।

जीवितमिति—मासादूर्ध्वं न जीवेयं सीता मामित्यब्रवीत्।

एवमिति—हनुमता एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उक्तमणिं दृष्ट्वा शोककर्शितः रामः सुग्रीवम् इदं वक्ष्यमाणम् अब्रवीत्।

अयमिति—अयं मणिः तस्याः सीतायाः मूर्ध्नि शोभते। अतः अस्य मणेर्दर्शनेन तां सीतां प्राप्तामिव चिन्तये मन्ये।

चिरमिति—यदि मासं धरिष्यति प्राणान् इति शेषः तदा वैदेही चिरं जीवति। अहं तु तां सीतां विना क्षणमपि न जीवेयं जीवितुमिच्छामि।

नयेति—प्रवृत्तिं वृत्तान्तमुपलभ्य ज्ञात्वा क्षणमपि न तिष्ठेयम अतः यत्र मम प्रिया दृष्टा तं देशं मामपि नय।

मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी।
मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे॥ १९५॥
एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना।
सीताया भाषितं सर्वं न्यवेदयत राघवे॥ १९६॥
हनुमन् सिंहसंकाशौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
सुग्रीवं च सहामात्यं सर्वान् ब्रूया ह्यनामयम्॥ १९७॥
यथा च स महाबाहुर्मां तारयति राघवः।
अस्माद्दुःखाम्बुसंरोधात् त्वं समाधातुमर्हसि॥ १९८॥
तदर्थोपहितं वाक्यं प्रश्रितं हेतुसंहितम्।
निशम्याहं ततः शेषं वाक्यमुत्तरमब्रवम्॥ १९९॥
मम पृष्ठगतौ तौ च चन्द्रसूर्याविवोदितौ।
त्वत्सकाशं महाभागे नृसिंहावागमिष्यतः॥ २००॥
अरिघ्नं सिंहसंकाशं क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम्।
लक्ष्मणं च धनुष्पाणिं लङ्काद्वारमुपस्थितम्॥ २०१॥
निवृत्तवनवासं च त्वया सार्धमरिन्दमम्।
अभिषिक्तमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि राघवम्॥ २०२॥

मधुरेति—मम भामिनी प्रिया किमाह कथं च जीवति तत् कथयस्व।

एवमिति—रावणेन एवमुक्तो हनुमान् सीतायाः सर्वं भाषितं राघवे तत्समीपे न्यवेदयत।

हनुमन्निति—सिंहसंकाशौ सदृशौ रामलक्ष्मणौ सुग्रीवं सर्वान् अन्यांश्च अनामयं ब्रूयाः वदेः।

यथेति—दुःखाम्बुसंरोधात् दुःखसागरात् यथा स राघवः मां तारयति तथा त्वं समाधातुमर्हसि।

तदर्थेति—अहम् अर्थोपहितं तद्वाक्यं निशम्य श्रुत्वा शेषं स्थिरं उत्तरं वाक्यम् अब्रुवम्।

ममेति—मम पृष्ठगतौ पृष्ठारूढौ तौ रामलक्ष्मणौ उदितौ चन्द्रसूर्यौ इव त्वत्सकाशम् आगमिष्यतः।

अरिघ्नमिति—सिंहसंकाशं रामं धनुष्पाणिं लक्ष्मणं च क्षिप्रं शीघ्रं द्रक्ष्यसि।

निवृत्तेति—त्वया सार्धमभिषिक्तं राघवमयोध्यायां क्षिप्रं द्रक्ष्यसि।

इति श्रीवाल्मीकिरामायणे सुन्दरकाण्डं रामायणशिरोमणि-

टीकासमेतं समाप्तम्॥

श्रीमद्भगवद्गीतोपदेशः

अर्जुन-विषादः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १–१ ॥

धर्मप्रधानत्वाद्धर्मप्रदत्वाद्वा धर्मक्षयात्त्रायत इति वा धर्मक्षेत्रं तस्मिन्धर्मक्षेत्रे वासमात्रेण धर्मतत्फलप्रदे कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो युद्धं चिकीर्षवोऽतएव समवेताः समवायं प्राप्ताः सन्नद्धाः मामकाः दुर्योधनादयः पाण्डवाश्च किं कार्यं कृतवन्तः सञ्जय, तद्ब्रूहीत्यर्थः ।

सञ्जय उवाच—

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ १–२० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अथोभयसेनयोः युद्धसन्नाहसमनन्तरं पाण्डोरपत्यं पाण्डवः कपिध्वजोऽर्जुनः व्यवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा स्वयमपि धनुरुद्यम्य शस्त्राणां सम्पाते प्रयोगकाले प्राप्ते तदा हृषीकेशमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह हे महीपते ।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ १–२१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ १–२२ ॥

योद्धुकामान् युयुत्सून् अतएवावस्थितान्सेनां सन्नह्य युद्धायोद्युक्तानेतान् योधान् सर्वान् यावत् यावति देशे स्थित्वाहं निरीक्षे सम्यक् पश्यामि हे अच्युत ! तावन्तं देशं मे रथं नीत्वा सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापय । किमिह सेनां द्रष्टुमागतोऽसि वा त्वमित्यत आह—कैरिति । अस्मिन् रणसमुद्यमे युद्धव्यापारे कैः सह मया योद्धव्यं युद्धं कर्तव्यं भवति ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ १–२३ ॥

दुर्बुद्धेरधर्मनिष्ठस्य धार्तराष्ट्रस्य धृतराष्ट्रापत्यस्य दुर्योधनस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः युद्धेनेष्टमर्थं सम्पादयितुकामाः संतोऽत्र कुरुक्षेत्रे ये वा एते समागतास्तान् योत्स्यमानान् सर्वानहमवेक्षे नाम रूपं कुलं च संबन्धं यथा ज्ञास्ये तथा रथं स्थापयेत्यर्थः।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ १–२४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ १–२५ ॥

गुडाकेशः—गुडवन्मधुरः सन् भक्तानकति प्राप्नोतीति गुडाकः शिवः। 'स्वादुष्किलायं मधुमानुतायम्' इति श्रुतेः। स शिव ईशो यस्य स गुडाकेशोऽर्जुनस्तेन, हृषीकेशः-हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो हृषीकेशः श्रीकृष्णः एवमुक्तः सन् रथोत्तमं रथिकसारथिभ्यामश्वविशेषैर्ध्वजप्रभावेन चोत्कृष्टत्वेन तद्रथस्योत्तमत्वम्। तं रथोत्तमं सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा, भीष्मद्रोणप्रमुखतः षष्ठी बहुवचनान्तस्तसि भीष्मद्रोणौ प्रमुखमादिर्येषां ते भीष्मद्रोणप्रमुखाः महीक्षितः छत्रिन्यायेनात्र भीष्मस्यैव महीक्षित्वं तेषां भीष्मद्रोणप्रमुखानां महीक्षितां भूभुजां सर्वेषां शृण्वतामितिशेषः। हे पार्थ, समवेतान्समवायं प्राप्तानेतान्कुरूनपश्येत्युवाच।

तत्रापश्यत् स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ १–२६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

अथ भगवदुक्तेरनन्तरं पार्थः—पृथा-कुन्ती तदपत्यं पार्थोऽर्जुनो यत्र रथः स्थापितस्तत्र स्थित्वा सेनयोरुभयोरपि स्थितान् पितॄन् पितृव्यान्; सखीन् सवयस्काः सखायस्तान्, श्वशुरान् सुहृदो मित्राणि चैवं सर्वानपि स्वीयानेवापश्यत। नतु तदतिरिक्तानित्यर्थः।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ १–२७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

स दर्शनकर्मणि प्रवृत्तः कौन्तेयः कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयोऽर्जुनः बन्धून् बन्धुत्वधर्मविशिष्टानेव तानवस्थितान् युद्धसन्नद्धान् सर्वान् समीक्ष्य ग्रीवामुन्नम्य सम्यग्दृष्ट्वा तेषु परया कृपयाविष्टो भूत्वा विषीदन्निदं वक्ष्यमाणलक्षणं वचनमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ १–२८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ १–२९ ॥

युयुत्सुं सेनां सन्नह्य युयुत्सया समुपस्थितमिमं पुरःस्थं स्वजनं पितृपुत्रादिकं दृष्ट्वा मदीया इति ज्ञात्वा, हे कृष्ण, इमं हन्तुं मम गात्राणि करचरणादयः सीदन्ति शिथिलायन्ते, मुखं च परिशुष्यति शुष्कीभवति, शरीरे वेपथुः कम्पो रोमहर्षोभयसन्तापाभ्यां रोमोद्गमश्च जायते ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ १–३० ॥

हस्ताद् गाण्डीवं धनु स्रंसते गलति त्वक् चर्म च परितापेन दह्यते, मे मनोऽपि च भ्रमति परवशं गच्छति । अत एव रथे स्थातुं च न शक्नोमि।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ १–३१ ॥

हे केशव, युद्धप्रवृत्तेरनर्थत्वसूचकानि विपरीतान्येव निमित्तानि च पश्यामि न त्वनुकूलानि । इदानीमेवमस्तु तथापि पश्चात्तु श्रेयो भविष्यतीत्यतआह—नचेति । इमं पितृपितामहादिकं स्वजनमाहवे युद्धे हत्वा अनु-पश्चाद् युद्धानन्तरभावि न किमपि श्रेयश्च पश्यामि । एतेषां वधेन न कमपि पुरुषार्थमेष्यन्तं विजान इत्यर्थः ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द, किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ १–३२ ॥

अस्त्येवैतेषां वधेन जयादिलक्षणं श्रेय इत्यत आह—न काङ्क्ष इति । स्वजनहिंसया प्राप्तो यो जयस्तमहं न काङ्क्षे, तेन प्राप्तं राज्यं च तन्मूलकानि विषयसुखान्यपि नाहं काङ्क्ष इत्यर्थः । एतैर्यथा राज्याद्यपेक्षया युध्यते तथा भवद्भिरपि युध्यतामित्यत आह—किमिति । धर्माधर्मविवेकवता नोऽस्माकं स्वजन-हिंसया प्राप्तेन राज्येन किं फलं तन्मूलकैर्भोगैर्वा किं तदर्थकेन जीवितेन वा किम् । अधर्ममूलकं दोषावहमेतत्सर्वं सतां नाशास्यमित्यर्थः ।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ १–३३ ॥

अकार्यशतेनापि पोषणीयानां येषां पितृपुत्रादीनामर्थे निमित्ते राज्यं, भोगाः सुखानि च काङ्क्षितं नोऽस्माभिः काङ्क्षितानि भवन्ति । न इति तृतीयार्थे षष्ठी । त

एव पित्रादय इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे युद्धनिमित्तमवस्थिताः। जीविताशां त्यक्त्वा युद्धे मर्तुमागत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ १–३५ ॥

खड्गैर्मां घ्नतोऽपि हिंसतोऽप्येतानाचार्यादीन् हन्तुं नेच्छामि, त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरपि निमित्ताय वा। एतेषां हतेनेन्द्रत्वं वाप्यागच्छतु तथाप्येतान् हन्तुं नेच्छामि किं नु महीकृते किं वक्तव्यं राज्यार्थमेतान् हन्तुं नेच्छामीति। अनेन स्वर्गसुखमपि मास्त्वित्युक्तं भवति।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ –४७ ॥

अर्जुनः संख्ये सति एवं उक्तप्रकारकं वचनमुक्त्वा शोकसंविग्नमानसः स्वजनविनाशं निमित्तीकृत्य समुत्पन्नेन शोकेन संविग्नं मानसं यस्य स तथोक्तः सन् सशरं चापं विसृज्य नाहं योद्धुं शक्ष्यामीति रथोपस्थे रथस्योपरि उपाविशद् उपविष्टवानित्यर्थः।

श्रीकृष्णोपदेशः

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ २–१ ॥

तथा—उक्त रीत्या मदीया एते भ्रातृपुत्रादयो युधि म्रियन्त इति मरिष्यमाणस्वजनेषु कृपयाविष्टमतएव विषीदन्तमतएवाश्रुपूर्णाकुलेक्षणं तमर्जुनं दृष्ट्वा मधुसूदनः मध्वा-सर्वेषां देहे मधुवदिष्टत्वान्मधुरहङ्कारस्तमात्मप्रकाशनेन सूदयतीति मधुसूदनः। यद्वा 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' इति श्रवणान्मधुः स्वरूपानन्दस्तं स्वापरोक्षवतां सूदयति स्फोरयतीति मधुसूदनः श्रीकृष्णः इदं वक्ष्यमाणलक्षणं वाक्यमुवाच।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २–२ ॥

हे अर्जुन शुद्धस्वभाव, विषमे सङ्कटे शत्रुभिः शस्त्रैर्हन्तुं प्रवृत्तसमये इदं कश्मलं 'एतान्न हन्तुमिच्छामि'इत्याद्युक्तलक्षणश्चित्तव्यामोहः कुतः कस्माद्धेतोस्त्वा त्वां समुपस्थितम् प्राप्तम्। कालदोषात्कर्मदोषाद्वा कस्मादयं भ्रमः शुद्धस्वभावस्य विवेकिनस्तव प्राप्त इत्यर्थः। हे पार्थ, अनार्यजुष्टमनार्यैरार्यशिक्षावर्जितैः पामरैर्जुष्टं सेवितमस्वर्ग्यं स्वर्गाप्रापकं दुर्गतिकारणमिहलोकेऽप्यकीर्तिकरम्।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ २–३ ॥

क्लैब्यं क्लीबभावं कातर्यं शूराणामनर्हं त्वं मा स्म गमः मा भजस्व । राजधर्मज्ञे रणपण्डिते त्वयि नैतदुपपद्यते । वीरतमस्तुत्यस्य तव नैतद्युक्तमित्यर्थः । हे परन्तप शत्रुकर्षण, क्षुद्रं क्षुद्रत्वकारणं निकृष्टत्वापादकं हृदयदौर्बल्यमधैर्यं मनः कालुष्यमेतत्त्यक्त्वोत्तिष्ठ । युद्धाय सन्नद्धो भवेत्यर्थः ।

नित्य आत्मा इति

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ २–११ ॥

न शोच्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः, सद्वृत्तत्वात्, परमार्थस्वरूपेण च नित्यत्वात् । तान् अशोच्यान् अन्वशोचः अनुशोचितवान् असि 'ते म्रियन्ते मन्निमित्तं, अहं तैः विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिना ?' इति त्वं प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान् वचनानि च भाषसे । तदेतत् मौढ्यं पाण्डित्यं च विरुद्धं आत्मनि दर्शयसि उन्मत्त इव इति अभिप्रायः । यस्मात् गतासून् गतप्राणान् मृतान्, अगतासून अगतप्राणान जीवतः च न अनुशोचन्ति । पण्डिताः आत्मज्ञाः । पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः । परमार्थतस्तु तान् नित्यान् अशोच्यान् अनुशोचसि, अतो मूढोऽसि इति अभिप्रायः ।

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ २–१२ ॥

न तु एव जातु कदाचित् अहं नासम्, किन्तु आसमेव । अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु घटादिषु वियदिव नित्य एव अहं आसं इति अभिप्रायः । तथा न त्वं नासीः किन्तु आसीरेव । तथा न इमे जनाधिपाः न आसन्, किन्तु आसन्नेव । तथा न च एव न भविष्यामः, किंतु भविष्याम एव सर्वे वयं अतः अस्मात् देहविनाशात् परं उत्तरकालेऽपि । त्रिष्वपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेन इत्यर्थः । देहभेदानुवृत्या बहुवचनम्. न आत्मभेदाभिप्रायेण ।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिः धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २–१३ ॥

देहः अस्य अस्तीति देही तस्य देहिनो देहवतः आत्मनः अस्मिन्वर्तमाने देहे यथा येन प्रकारेण कौमारं कुमारभावो बाल्यावस्था यौवनं यूनो भावो मध्यमावस्था, जरा वयोहानिः जीर्णावस्था, इत्येताः तिस्रः अवस्थाः अन्योन्यविलक्षणाः । तासां प्रथमावस्थानाशे न नाशः, द्वितीयावस्थोपजने न उपजनं आत्मनः । किं तर्हि ? अवि-

क्रियस्यैव एकस्य द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्तिः आत्मनो दृष्टा । तथा तद्वदेव देहान् अन्यो देहो देहान्तरं, तस्य प्राप्तिः अविक्रियस्यैव आत्मन इत्यर्थः। धीरो धीमान् तत्र एवं सति, न मुह्यति न मोहम् आपद्यते ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ २–१७ ॥

अविनाशि न विनष्टुं शीलं अस्येति । तु शब्दः असतो विशेषणार्थः । तत् विद्धि विजानीहि । किम् ? येन सर्वं इदं जगत् ततं व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साकाशं, आकाशेनेव घटादयः । विनाशं अदर्शनं अभावम् । अव्ययस्य न व्येति उपचयापचयौ न याति इति अव्ययं, तस्य अव्ययस्य । न एतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्येति, व्यभिचरति निरवयवत्वात । अतः अव्ययस्य अस्य ब्रह्मणः विनाशं न कश्चित्कर्तु अर्हति, न कश्चित् आत्मानं विनाशयितुं शक्नोति ईश्वरोऽपि । आत्मा हि ब्रह्म, स्वात्मनि च क्रियाविरोधात् ।

न जायते म्रियते वा कदाचित
नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २–२० ॥

वाशब्दः चार्थे । कदाचित् शब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः सम्बद्ध्यते न कदाचित् जायते उत्पद्यते तथा न कदाचित् म्रियते वा न म्रियते च । यस्मात् अयं आत्मा भूत्वा भवनक्रियां अनुभूय पश्चात् अभविता अभावं गन्ता न भूयः पुनः, तस्मात् न म्रियते । यो हि भूत्वा न भविता स म्रियते इत्युच्यते लोके । वा शब्दात् न शब्दाच्च अयं आत्मा अभूत्वा वा भविता देहवत् न भूयः पुनः । तस्मात् न जायते यो हि अभूत्वा भविता स जायते इति उच्यते । नैवं आत्मा । अतो न जायते । यस्मात् एवं तस्मात् अजः । यस्मात् न म्रियते तस्मात् नित्यः च । शश्वद्भवः शाश्वतः । न अपक्षीयते स्वरूपेण निरवयवत्वात् । निर्गुणत्वाच्च नापि गुणक्षयेण अपक्षयः । पुराणः— यो हि अवयवागमेन उपचीयते संवर्धते, अभिनव इति च उच्यते । अयं तु आत्मा निरवयवत्वात् पुरापि नव एवेति पुराणः, न वर्धते इत्यर्थः ।

तथा—न हन्यते । हन्तिः अत्र विपरिणामार्थे द्रष्टव्यः अपुनरुक्ततायै । न विपरिणम्यते इत्यर्थः । हन्यमाने विपरिणम्यमानेऽपि शरीरे ॥ अस्मिन् मन्त्रे षड् भावविकाराः लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिद्ध्यन्ते सर्वप्रकारविक्रियारहितः आत्मा इति वाक्यार्थः ।



अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २-२६ ॥

अथ च इति अभ्युपगमार्थः। एनं प्रकृतं आत्मानं नित्यजातं लोक प्रसिद्ध्या प्रत्यनेकशरीरोत्पत्ति जातो जातः इति वा मन्यसे, तथा प्रति तत्तद्विनाशं नित्यं वा मन्यसे मृतं मृतो मृतः इति; तथापि तथाभावेऽपि आत्मनि त्वं महाबाहो न एवं शोचितुं अर्हसि, जन्मवतो नाशः नाशवतो जन्म चेति एतौ अवश्यंभाविनौ इति यस्मात्।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २-२७ ॥

जातस्य हि लब्धजन्मनः ध्रुवः अव्यभिचारी मृत्युः मरणं ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मात् अपरिहार्योऽयं जन्ममरण लक्षणः अर्थः तस्मिन् अपरिहार्ये अर्थे न त्वं शोचितुं अर्हसि।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ १-२८ ॥

अव्यक्तादीनि—अव्यक्तं अदर्शनं, अनुपलब्धिः आदिः येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यकरणसंघातात्मकानां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि प्राक् उत्पत्तेः। उत्पन्नानि च प्राक् मरणात् व्यक्तमध्यानि। अव्यक्तनिधनानि एव-पुनः अव्यक्तं अदर्शनं, निधनं, मरणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि। मरणात् ऊर्ध्वं अव्यक्ततामेव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः। तत्र का परिदेवना—को वा प्रलापः अदृष्टदृष्टप्रनष्टभ्रान्तिः भूतेषु इत्यर्थः।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥१-२९॥

आश्चर्यवत् आश्चर्यं अदृष्टं पूर्वं अद्भुतं अकस्मात् दृश्यमानं तेन तुल्यं आश्चर्यवत् आश्चर्यमिव एनं आत्मानं पश्यति कश्चित्। आश्चर्यवत् एनं वदति तथैव च अन्यः, आश्चर्यवत् च अन्यः शृणोति। श्रुत्वा दृष्ट्वा उक्त्वा अपि एनं आत्मानं वेद न चैव कश्चित्। अथवा—यः इमम् आत्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यः। यो वदति यश्च शृणोति, स अनेकसहस्रेषु कश्चिदेव भवति। अतः दुर्बोधः आत्मा इत्यभिप्रायः।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १-३० ॥

देही शरीरी नित्यं सर्वदा सर्वावस्थासु अवध्यः निरवयवत्वान्नित्यत्वाच्च तत्र अवध्योऽयं देहे शरीरे सर्वस्य सर्वगतत्वात् स्थावरादिषु स्थितोऽपि। सर्वस्य प्राणि-

जातस्य देहे वध्यमानेऽपि अयं देही न वध्यः यस्मात् तस्मात् भीष्मादीनि सर्वाणि भूतानि उद्दिश्य न त्वं शोचितुं अर्हसि ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ २-३१ ॥

स्व धर्म अपि स्वो धर्मो क्षत्रियस्य धर्मः युद्धं तमपि अवेक्ष्य त्वं न विकम्पितुं प्रचलितुं अर्हसि । धर्म्मात् क्षत्रियस्य स्वाभाविकात् धर्मात् आत्मस्वाभाव्यादित्यभिप्रायः । तच्च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण धर्मार्थं प्रजारक्षणार्थं चेति परमं धर्म्यम् । धर्मात् अनपेतं धर्म्यम् । तस्मात् धर्म्यात् युद्धात् श्रेयः अन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते हि यस्मात् ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ २-३१ ॥

यदृच्छया च—अप्रार्थितं उपपन्नं आगतं स्वर्गद्वारं अपावृतं उद्घाटितं ये एतत् ईदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रियाः हे पार्थ, किं न सुखिनः ते ?

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ २-३३ ॥

अथ चेत् त्वं इमं धर्म्यं धर्मादनपेतं विहितं संग्रामं युद्धं न करिष्यसि चेत्, ततः तदकरणात् स्वधर्मं कीर्तिं, च महादेवादिसमागमनिमित्तां हित्वा केवलं पापं अवाप्स्यसि ।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ २-३४ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति ते तव अव्ययां—दीर्घकालाम् । धर्मात्मा शूरः इत्येवमादिभिः गुणैः सम्भावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते, सम्भावितस्य च अकीर्तेः वरं मरणम् इत्यर्थः ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ २-३५ ॥

भयात् कर्णादिभ्यो रणात्—युद्धात् उपरतं—निवृत्तं, मंस्यन्ते-चिन्तयिष्यन्ति न कृपया इति त्वां महारथाः दुर्योधनप्रभृतयः । येषां च त्वं दुर्योधनादीनां बहुमतो बहुभिः गुणैः युक्तः इत्येवं मतः, बहुमतो भूत्वा पुनः त्वं यास्यसि लाघवम् लघुभावम् ।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ २-३६ ॥

अवाच्यवादान् अवक्तव्यान् वादान् च बहून् अनेकप्रकारान् वदिष्यन्ति तव अहिताः शत्रवः निन्दन्तः कुत्सयन्तः तव त्वदीयं सामर्थ्यं निवातकवचादियुद्ध-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २–२२ ॥

वासांसि वस्त्राणि जीर्णानि दुर्बलतां गतानि यथा लोके विहाय परित्यज्य नवानि अभिनवानि गृह्णाति उपादत्ते नरः पुरुषः अपराणि अन्यानि, तथा तद्वदेव शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति संगच्छति नवानि देही आत्मा पुरुषवत् अविक्रिय एवेत्यर्थः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २–२३ ॥

एनं प्रकृतं देहिनं न छिन्दन्ति शस्त्राणि निरवयवत्वात् न अवयव विभागं कुर्वन्ति । शस्त्राणि अस्त्रादीनि । तथा न एनं दहति पावकः, अग्निरपि न भस्मीकरोति । तथा—न च एनं क्लेदयन्ति । आपः अपां हि सावयवस्य वस्तुनः आर्द्रीभावकरणेन अवयवविश्लेषापादने सामर्थ्यम् । तत् न निरवयवे आत्मनि सम्भवति । तथा स्नेहवत् द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः । एनं तु आत्मानं न शोषयति मारुतः अपि ।

अच्छेद्योयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २–२४ ॥

यस्मात् अन्योन्यनाशहेतूनि भूतानि एनं आत्मानं नाशयितुं न उत्सहन्ते तस्मात् नित्यः । नित्यत्वात् सर्वगतः । सर्वगतत्वात् स्थाणुरिव स्थिर इत्येतत् । स्थिरत्वात् अचलः अयं आत्मा, अतः सनातनः चिरन्तनः न कारणात् कुतश्चिन्निष्पन्नः, अभिनव इत्यर्थः ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २–२५ ॥

सर्वकारणाविषयत्वात् न व्यज्यते इति अव्यक्तः अयं आत्मा । अत एव अचिन्त्यः अयम् । यत् हि इन्द्रियगोचरः तत् चिन्ताविषयत्वं आपद्यते । अयं तु आत्मा अनिन्द्रियगोचरत्वात् अचिन्त्यः अविकार्यः अयम्, यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकारि न तथा अयं आत्मा । निरवयत्वात् च अविक्रियः । न हि निरवयवं किञ्चित् विक्रियात्मकं दृष्टम् । अविक्रियत्वात् अविकार्यः अयम् आत्मा उच्यते । तस्मात् एवं यथोक्तप्रकारेण एनं आत्मानं विदित्वा त्वं न अनुशोचितुं अर्हसि 'हन्ताऽहमेषां मया एते हन्यन्ते' ।

निमित्तं । ततः तस्मात् निन्दाप्राप्तेः दुःखात् दुःखतरं नु किम ? ततः कष्टतर दुःखं नास्ति इत्यर्थः ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २–३७ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, हतः सन् स्वर्गं प्राप्स्यसि । जित्वा वा कर्णादीन् शूरान् भोक्ष्यसे महीम् । उभयथापि तव लाभ एव इत्यभिप्रायः । यत एवं तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः 'जेष्यामि शत्रून्, मरिष्यामि वा' इति निश्चयं कृत्वा इत्यर्थः ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २–३८ ॥

सुखदुःखे समे तुल्ये कृत्वा, रागद्वेषौ (अपि) अकृत्वा इत्येतत् । तथा लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व घटस्व । न एवं युद्धं कुर्वन् पापं अवाप्स्यसि । (इति) एष उपदेशः प्रासङ्गिकः ॥

कर्मयोगः

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ २–४७ ॥

कर्मणि एव अधिकारः, न ज्ञाननिष्ठायां ते तव । तत्र च कर्म कुर्वतः मा फलेषु अधिकारः अस्तु कर्मफलतृष्णा मा भूत् कदाचन कस्यांचिदपि अवस्थायां इत्यर्थः । यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात् तदा कर्मफलप्राप्तेः हेतुः स्याः, एवं मा कर्मफलहेतुः भूः । यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलस्यैव जन्मनः हेतुः भवेत् । यदि कर्मफलं न इष्यते, किं कर्मणा दुःखरूपेण ? इति मा ते तव सङ्गः अस्तु अकर्मणि अकरणे प्रीतिः मा भूत् ।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ३–५ ॥

न हि यस्मात् क्षणमपि कालं जातु कदाचित् कश्चित् तिष्ठति अकर्मकृत् सन । कस्मात ? कार्यते प्रवर्त्यते हि यस्मात् अवश एव अस्वतन्त्र एव कर्म सर्वः प्राणी प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैः । अज्ञ इति वाक्यशेषः । यतः वक्ष्यति गुणैर्यो न विचाल्यते' इति । सांख्यानां पृथक् करणात् अज्ञानामेव हि कर्मयोगः न ज्ञानिनाम् । ज्ञानिनां तु गुणैरचाल्यमानानां स्वतः चलनाभावात् कर्मयोगो न उपपद्यते ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ३-८ ॥

नियतं नित्यं (शास्त्रोपदिष्टं) यो यस्मिन् कर्मणि अधिकृतः फलाय च अश्रुतं तत् नियतं कर्म, तत् कुरु त्वं हे अर्जुन, यतः कर्मज्यायः—अधिकतरं फलतः, हि यस्मात् अकर्मणः—अकरणात् अनारम्भात्। कथं ? शरीरयात्रा शरीरस्थितिः अपि च ते तव न प्रसिद्ध्येत्–प्रसिद्धिं न गच्छेत् अकर्मणः अकरणात्। अतः दृष्टः कर्माकर्मणोः विशेषः लोके।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ १–२० ॥

कर्मणैव हि पूर्वे क्षत्रियाः विद्वांसः संसिद्धिं मोक्षं गन्तुं आस्थिता प्रवृत्ताः। के ? जनकादयः—जनकाश्वप्रभृतयः। यदि ते प्राप्तसम्यग्दर्शनाः, ततः लोकसंग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात् कर्मणा सहैव असंन्यस्यैव कर्म संसिद्धिं आस्थिता इत्यर्थः। अथ अप्राप्तसम्यग्दर्शनाः जनकादयः तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः।

अथ मन्यसे—पूर्वैरपि (जनकादिभिः) अजानद्भिः एव कर्तव्यं कर्म कृतं तावता नावश्यं अन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेन इति ? तथापि प्रारब्धकर्मायत्तः त्वं लोकसंग्रहं एव अपि लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहः, तमेवापि प्रयोजनं संपशयन् कर्तुं अर्हसि।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ३–२१ ॥

यद्यत् कर्म आचरति करोति श्रेष्ठः प्रधानः तत्तदेव कर्म आचरति इतरः जनः तदनुगतः। किं च स श्रेष्ठः यत् प्रमाणं कुरुते लौकिकं वैदिकं वा लोकः तद् अनुवर्तते तदेव प्रमाणीकरोति इत्यर्थः।

योगसाधनविधिः

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६–५॥

उद्धरेत्—संसारसागरे निमग्नं आत्मानं आत्मना ततः उत्-ऊर्ध्वं ह्ररेत्–उद्धरेत् योगारूढतां आपादयेत् इत्यर्थः। न आत्मानं अवसादयेत्–न अधः नयेत्! आत्मैव हि यस्मात् आत्मनः बन्धुः। नहि अन्यः कश्चित् बन्धुः यः संसारमुक्तये भवति। बन्धुरपि तावत् मोक्षं प्रति प्रतिकूलः एव। स्नेहादिबन्धनायतनत्वात्। तस्मात्

युक्तं अवधारणम् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः इति । आत्मैव रिपुः—शत्रुः । यः अन्यः अपकारी बाह्यः शत्रुः सोऽपि आत्म-प्रयुक्तः एव इति युक्तमेव अवधारणं 'आत्मैव रिपुरात्मनः' इति ।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६–६॥

बन्धुः आत्मा आत्मनः तस्य—तस्य आत्मनः स आत्मा बन्धुः स आत्मा बन्धुः येन आत्मना आत्मैव जितः, आत्मा कार्यकरणसंघातो येन वशीकृतः, जितेन्द्रियः इत्यर्थः । अनात्मनः तु—अजितात्मनः तु शत्रुत्वे—शत्रुभावे वर्तेत आत्मैव शत्रुवत्—यथा अनात्मा शत्रुः आत्मनः अपकारी, तथा आत्मा आत्मनः अपकारे वर्तेत इत्यर्थः ।

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६–१०॥

योगी—ध्यायी, युञ्जीत—समादध्यात्, सतत—सर्वदा आत्मानं—अन्तःकरणं रहसि—एकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः सन् एकाकी असहायः—'रहसि स्थितः एकाकी च' इति विशेषणात् संन्यासं कृत्वा इत्यर्थः—यतचित्तात्मा, चित्तं अन्तःकरणं आत्मा देहश्च संयतौ यस्य सः यतचित्तात्मा, निराशीः वीततृष्णः, अपरिग्रहः—परिग्रहरहितश्चेत्यर्थः । संन्यासित्वेऽपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन् युञ्जीत इत्यर्थः ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम ॥६–११॥

शुचौ—शुद्धे विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो व, देशे—स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं अचलं आत्मनः आसनं नात्युच्छ्रितं—नातीव उच्छ्रितं न अपि, अतिनीचं तच चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं, अजिनं कुशाश्च उत्तरे यस्मिन् आसने तत् आसनं चैलाजिनकुशोत्तरम । पाठक्रमात विपरीतः अत्र क्रमः चैलादीनाम् ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥६–१२॥

तत्र तस्मिन् आसने उपविश्य योगं युञ्ज्यात्—कथं ?—सर्वविषयेभ्यः उपसंहृत्य एकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः—चित्तं च इन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रिया संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः । स किमर्थं योगं युञ्ज्यात् इति ? आह—आत्मविशुद्धये अन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थं इत्येतत् ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन ॥ ६–१३ ॥

समं कायशिरोग्रीवं—कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत् समं धारयन् अचलं च । समं धारयतः चलनं सम्भवति; अतः विशिनष्टि—अचलं इति ।

स्थिरः स्थिरो भूत्वा इत्यर्थः । स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य सम्यक् प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वा इव इति; इव शब्दो लुप्तः द्रष्टव्यः । नहि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणं अत्र विधित्सितम् । किं तर्हि ? चक्षुषोः दृष्टिसंनिपातः । दिशश्च अनवलोकयन् दिशां च अवलोकनं अन्तरा कुर्वन् इत्येतत् ।

प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६–१४ ॥

प्रशान्तात्मा—प्रकर्षेण शान्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रशान्तात्मा, विगतभीः—विगतभयः, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः—ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचारिव्रतं ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषाभिक्षान्नभुक्त्यादि तस्मिन् स्थितः, तदनुष्ठाता भवेत इत्यर्थः । किञ्च—मनः संयम्य मनसः वृत्तीः उपसंहृत्य इत्येतत् , मच्चित्तः मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तो युक्तः समाहितः सन् आसीत उपविशेत् । मत्परः—अहं परो यस्य सोऽयं मत्परो भवति ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६–१५ ॥

युञ्जन्—समाधानं कुर्वन्, एवं यथोक्तेन विधानेन सदा आत्मानं सर्वदा योगी नियतमानसः—नियतं संयतं मानसं मनो यस्य सोऽयं नियतमानसः—शान्तिं उपरतिं, निर्वाणपरमां—निर्वाणं मोक्षः तत परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाणपरमा तां निर्वाणपरमां मत्संस्थां मदधीनां अधिगच्छति प्राप्नोति ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ६–१६ ॥

न अत्यश्नतः—आत्मसंमितं अन्नपरिमाणं अतीत्याश्नतः अत्यश्नतः न योगः अस्ति। न च एकान्तं अनश्नतः योगः अस्ति । न च अतिस्वप्नशीलस्य योगो भवति । नैव च अतिमात्रं जाग्रतो योगो भवति च अर्जुन ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६–१७ ॥

युक्ताहारविहारस्य—आह्रियते इति आहारः अन्नं, विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य स युक्ताहारविहारः तस्य, तथा युक्तचेष्टस्य—युक्ता नियता चेष्टा यस्य कर्मसु तस्य, तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य—युक्तौ स्वप्नश्च अवबोधश्च तौ नियत कालौ यस्य तस्य, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा—दुःखानि सर्वाणि हन्तीति दुःखहा सर्वसंसारदुःखक्षयकृत् योगः भवति इत्यर्थः ।

युक्तं अवधारणम् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः इति । आत्मैव रिपुः—शत्रुः । यः अन्यः अपकारी बाह्यः शत्रुः सोऽपि आत्म-प्रयुक्तः एव इति युक्तमेव अवधारणं 'आत्मैव रिपुरात्मनः' इति ।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६–६॥

बन्धुः आत्मा आत्मनः तस्य—तस्य आत्मनः स आत्मा बन्धुः स आत्मा बन्धुः येन आत्मना आत्मैव जितः, आत्मा कार्यकरणसंघातो येन वशीकृतः, जितेन्द्रियः इत्यर्थः । अनात्मनः तु—अजितात्मनः तु शत्रुत्वे—शत्रुभावे वर्तेत आत्मैव शत्रुवत्—यथा अनात्मा शत्रुः आत्मनः अपकारी, तथा आत्मा आत्मनः अपकारे वर्तेत इत्यर्थः ।

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥६–१०॥

योगी—ध्यायी, युञ्जीत—समादध्यात्, सतत—सर्वदा आत्मानं—अन्तःकरणं रहसि—एकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः सन् एकाकी असहायः—'रहसि स्थितः एकाकी च' इति विशेषणात् संन्यासं कृत्वा इत्यर्थः—यतचित्तात्मा, चित्तं अन्तःकरणं आत्मा देहश्च संयतौ यस्य सः यतचित्तात्मा, निराशीः वीततृष्णाः, अपरिग्रहः—परिग्रहरहितश्चेत्यर्थः । संन्यासित्वेऽपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन् युञ्जीत इत्यर्थः ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम ॥६–११॥

शुचौ—शुद्धे विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो वा, देशे—स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरं अचलं आत्मनः आसनं नात्युच्छ्रितं—नातीव उच्छ्रितं न अपि, अतिनीचं तच्च चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं, अजिनं कुशाश्च उत्तरे यस्मिन् आसने तत् आसनं चैलाजिनकुशोत्तरम। पाठक्रमात् विपरीतः अत्र क्रमः चैलादीनाम् ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥६–१२॥

तत्र तस्मिन् आसने उपविश्य योगं युञ्ज्यात्—कथं ?—सर्वविषयेभ्यः उपसंहृत्य एकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः—चित्तं च इन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि तेषां क्रिया संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः । स किमर्थं योगं युञ्ज्यात् इति ? आह—आत्मविशुद्धये अन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थं इत्येतत् ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन ॥ ६–१३ ॥

समं कायशिरोग्रीवं—कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत् समं धारयन् अचलं च । समं धारयतः चलनं सम्भवति; अतः विशिनष्टि—अचलं इति ।

स्थिरः स्थिरो भूत्वा इत्यर्थः । स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्यं सम्यक् प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वा इव इति; इव शब्दो लुप्तः द्रष्टव्यः । नहि स्वनासिकाग्रसंप्रेक्षणं अत्र विधित्सितम् । किं तर्हि ? चक्षुषोः दृष्टिसंनिपातः । दिशश्च अनवलोकयन् दिशां च अवलोकनं अन्तरा कुर्वन् इत्येतत् ।

प्रशान्तात्मा विगतभीः ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ६-१४ ॥

प्रशान्तात्मा—प्रकर्षेण शान्तः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रशान्तात्मा, विगतभीः—विगतभयः, ब्रह्मचारिव्रते स्थितः—ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचारिव्रतं ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषाभिक्षान्नभुक्त्यादि तस्मिन् स्थितः, तदनुष्ठाता भवेत इत्यर्थः । किञ्च—मनः संयम्य मनसः वृत्तीः उपसंहृत्य इत्येतत् , मच्चित्तः मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तो युक्तः समाहितः सन् आसीत उपविशेत् । मत्परः—अहं परो यस्य सोऽयं मत्परो भवति ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ६-१५ ॥

युञ्जन्—समाधानं कुर्वन्, एवं यथोक्तेन विधानेन सदा आत्मानं सर्वदा योगी नियतमानसः—नियतं संयतं मानसं मनो यस्य सोऽयं नियतमानसः—शान्तिं उपरतिं, निर्वाणपरमां—निर्वाणं मोक्षः तत् परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाणपरमा तां निर्वाणपरमां मत्संस्थां मदधीनां अधिगच्छति प्राप्नोति ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ६-१६ ॥

न अत्यश्नतः—आत्मसंमितं अन्नपरिमाणं अतीत्याश्नतः अत्यश्नतः न योगः अस्ति। न च एकान्तं अनश्नतः योगः अस्ति । न च अतिस्वप्नशीलस्य योगो भवति । नैव च अतिमात्रं जाग्रतो योगो भवति च अर्जुन ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६-१७ ॥

युक्ताहारविहारस्य—आह्रियते इति आहारः अन्नं, विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य स युक्ताहारविहारः तस्य, तथा युक्तचेष्टस्य—युक्ता नियता चेष्टा यस्य कर्मसु तस्य, तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य—युक्तौ स्वप्नश्च अवबोधश्च तौ नियत कालौ यस्य तस्य, युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा—दुःखानि सर्वाणि हन्तीति दुःखहा, सर्वसंसारदुःखक्षयकृत् योगः भवति इत्यर्थः ।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥६–१८॥

यदा विनियतं विशेषेण नियतं संयतं एकाग्रतां आपन्नं चित्तं हित्वा बाह्यार्थ-चिन्तां आत्मन्येव केवले अवतिष्ठते, स्वात्मनि स्थितिं लभते इत्यर्थः । निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः–निर्गता दृष्टादृष्टविषयेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्य योगिनः स युक्तः समाहितः इत्युच्यते तदा तस्मिन् काले।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥६–१९॥

यथा दीपः प्रदीपः निवातस्थः निवाते वातवर्जिते स्थाने स्थितः न इङ्गते न चलति, सा उपमा उपमीयते अनया इत्युपमा योगज्ञैः चित्तप्रचारदर्शिभिः स्मृता चिन्तिता योगिनो यतचित्तस्य संयतान्तःकरणस्य युञ्जतो योगं अनुतिष्ठतः आत्मनः समाधिं अनुतिष्ठतः इत्यर्थः।

संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥६–२४॥

संकल्पप्रभवान् संकल्पः प्रभवः येषां कामानां ते संकल्पप्रभवाः कामाः तान् त्यक्त्वा परित्यज्य सर्वान् अशेषतः निर्लेपेन । किं च मनसैव विवेकयुक्तेन इन्द्रियग्रामं इन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियमनं कृत्वा समन्ततः समन्तात्।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥६–२५॥

शनैः शनैः न सहसा उपरमेत् उपरतिं कुर्यात्—कया—बुद्ध्या किं विशिष्ट-या ?—धृतिगृहीतया धृत्या धैर्येण गृहीतया धैर्येण युक्तया इत्यर्थः। आत्मसंस्थं आत्मनि संस्थितं 'आत्मैव सर्वं न ततः अन्यत् किञ्चित् अस्ति' इत्येवं आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। एष योगस्य परमः विधिः।

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६–२६॥

यतो यतः यस्माद्यस्मात् निमित्तात् शब्दादेः निश्चरति निर्गच्छति स्वाभाविकदोषात् मनः चंचलं अत्यर्थं चलं, अत एव अस्थिरं, ततस्ततः तस्मात्तस्मात् शब्दादेः निमित्तात् नियम्य तत्तन्निमित्तं यथात्म्यनिरूपणेन आभासीकृत्य वैराग्यभावनया च एतत् मनः आत्मन्येव वशं नयेत् आत्मवश्यतां आपादयेत्। एवं योगाभ्यासबलात् योगिनः आत्मन्येव प्रशाम्यति मनः।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखमश्नुते ॥६-२८॥

युञ्जन् एवं यथोक्तेन क्रमेण योगी योगान्तरायवर्जितः सदा सर्वदा आत्मानं विगतकल्मषः विगतपापः सुखेन अनायासेन ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तत् ब्रह्मसंस्पर्शं अन्तमतीत्य वर्तते इति अत्यन्तं उत्कृष्टं निरतिशयं सुखं अश्नुते व्याप्नोति ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६-३२ ॥

आत्मौपम्येन आत्मा स्वयमेव उपमीयते अनया इति उपमा तस्या उपमाया भावः औपम्यम् तेन आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतेषु समं तुल्यं पश्यति यः अर्जुन, स च किं समं पश्यति इति ? उच्यते—यथा मम सुखं इष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुख अनुकूलम् । वाशब्दः चार्थे । यदि वा यच्च दुःखं मम प्रतिकूलं अनिष्टं यथा, तथा सर्वप्राणिनां दुःखं अनिष्टं प्रतिकूलं इत्येवं आत्मौपम्येन सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्वभूतेषु समं पश्यति, न कस्यचित् प्रतिकूलंमाचरति, अहिंसक इत्यर्थः । य एवं अहिंसकः सम्यग्दर्शननिष्ठः स योगी परमः उत्कृष्टः मतः अभिप्रेतः सर्वयोगिनां मध्ये ।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ ६-३३ ॥

यः अयं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन समत्वेन हे मधुसूदन, एतस्य योगस्य अहं न पश्यामि नोपलभे, चञ्चलत्वात् मनसः—किम् ?—स्थिरां अचलां स्थितिम् ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ६-३४ ॥

कृष्ण इति कृषतेः विलेखनार्थस्य रूपम् । भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात् कृष्णः तस्य सम्बुद्धिः हे कृष्ण, हि यस्मात् मनः चंचलं न केवलं अत्यर्थं चंचलं, प्रमाथि च प्रमथनशीलं, प्रमथ्नाति शरीरं इन्द्रियाणि च विक्षिपत् सत परवशीकरोति । दुर्निवारत्वात् किञ्च दृढं किञ्चबलवत् प्रबलं, न केनचित् नियन्तुं शक्यम् । तस्य एवंभूतस्य मनसः अहं निग्रहं निरोध मन्ये वायोरिव तन्तुनागवत् अच्छेद्यम् । तस्य एवंभूतस्य मनसः अहं निग्रहं निरोध मन्ये वायोरिव यथा वायोः दुष्करो निरोधः ततोऽपि मनसः दुष्करं मन्ये इत्यभिप्रायः ।

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६-३५ ॥

असंशयं नास्ति संशयो हे महाबाहो 'मनो दुर्निग्रहं चलम्, इत्यत्र । किन्तु–अभ्यासेन तु, अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित् समानप्रत्ययावृत्तिः चित्तस्य । वैराग्येण वैराग्यं नाम दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्ण्यम् । तेन च वैराग्येण गृह्यते विक्षेपरूपः प्रचारः चित्तस्य । एवं तत् मनः गृह्यते निगृह्यते निरुद्ध्यते इत्यर्थः ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६–३६ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां असंयतं आत्मा अन्तः करणं यस्य सः अयं असंयतात्मनां तेन असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः दुःखेन प्राप्यते इति मे मतिः । यस्तु पुनः वश्यात्मना अभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यत्वं आपादितः आत्मा मनः यस्य सः अयं वश्यात्मना तु यतता भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता शक्यः अवाप्तुं योगः उपायतः यथोक्तात् उपायात् ।

भक्तियोगः

श्रीभगवानुवाच—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १२–६ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि ईश्वरे संन्यस्य मत्पराः अहं परः येषां ते मत्पराः सन्तः अनन्येनैव अविद्यमानं अन्यत् आलम्बनं विश्वरूपं देवं आत्मानं मुक्त्वा यस्य सः अनन्यः तेन अनन्येनैव—केन ?—योगेन—समाधिना मां ध्यायन्तः चिन्तयन्तः उपासते ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १२–७ ॥

तेषां मदुपासनैकपराणां अहं ईश्वरः समुद्धर्ता—कुतः इति ? आह-मृत्युसंसार-सागरात्—मृत्युयुक्तः संसारः मृत्युसंसारः, स एव सागर इव सागरः, दुस्तरत्वात्, तस्मात् मृत्युसंसारसागरात् अहं तेषां समुद्धर्ता भवामि न चिरात्—किं तर्हि ?—समाहितं चेतः येषां ते मय्यावेशितचेतसः तेषाम् ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ १२–८ ॥

मयि एव विश्वरूपे ईश्वरे मनः संकल्पविकल्पात्मकं समाधत्स्व स्थापय । मयि एव अध्यवसायं कुर्वन्तीं बुद्धिं च आधत्स्व निवेशय । ततः ते किं स्यात् इति ? शृणु—

निवसिष्यसि—निवत्स्यसि निश्चयेन मदात्मना मयि वासं करिष्यसि एव, अतः शरीर-पातात् ऊर्ध्वम्। निःसंशयः—संशयः अत्र न कर्तव्यः।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १२-९ ॥

अथ एवं यथा अवोचाम तथा मयि चित्तं समाधातुं स्थापयितु स्थिरं अचलं न शक्नोषि चेत्, ततः पश्चात् अभ्यासयोगेन, चित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनं अभ्यासः, तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणस्तेन अभ्यास-योगेन मां विश्वरूपं इच्छ प्रार्थयस्व आप्तुं हे धनञ्जय।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२-१० ॥

अभ्यासे अपि असमर्थः असि अशक्तः असि, तर्हि मत्कर्मपरमः भव, मदर्थं कर्म मत्कर्म, तत्परमः मत्कर्मपरमः मत्कर्मप्रधानः इत्यर्थः। अभ्यासेन विना मदर्थमपि कर्माणि केवलं कुर्वन् सिद्धिं सत्त्वशुद्धियोगज्ञानप्राप्तिद्वारेण अवाप्स्यसि।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ १२-११ ॥

अथ पुनः एतदपि यत् उक्तं मत्कर्मपरमत्वं तत् कर्तुं अशक्तः असि, मद्योगं आश्रितः मयि क्रियमाणानि कर्माणि संन्यस्य तत्करणं तेषां अनुष्ठानं स मद्योगः तं आश्रितः सन्—सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां कर्मणां फलसंन्यासं सर्वकर्मफलत्यागं ततः अनन्तरं कुरु यतात्मवान् संयत-चित्तः सन् इत्यर्थः।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२-१२ ॥

श्रेयः हि प्रशस्यतरं ज्ञानं—कस्मात् ?—(अ) विवेकपूर्वकात् अभ्यासात्। तस्मादपि ज्ञानात् ज्ञानपूर्वकं ध्यानं विशिष्यते। ज्ञानवतो ध्यानात् अपि कर्मफलत्यागः 'विशिष्यते' इति अनुषज्यते। एवं कर्मफलत्यागात् पूर्वोक्तविशेषणवतः (११) शान्तिः उपशमः सहेतुकस्य संसारस्य अनन्तरं एव स्यात्, न तु कालान्तरं अपेक्षते।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १२-१३ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां—सर्वेषां भूतानां न द्वेष्टा, आत्मनः दुःखहेतुमपि न किञ्चित् द्वेष्टि, सर्वाणि भूतानि आत्मत्वेन पश्यति। मैत्रः—मित्रभावः मैत्री, मित्रतया वर्तते इति मैत्रः, करुण एव च, करुणा कृपा दुःखितेषु दया, तद्वान् करुणः सर्वभूता-

भयप्रदः संन्यासी इत्यर्थः । निर्ममः—ममप्रत्ययवर्जितः निरहङ्कारः—निर्गताहंप्रत्ययः । समदुःखसुखः—समे दुःखसुखे द्वेषरागयोः अप्रवर्तके यस्य सः समदुःखसुखः । क्षमी क्षमावान्, आक्रुष्टः अभिहतो वा अविक्रियः एव आस्ते ।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ-निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१४॥

सन्तुष्टः सततं नित्यं, देहस्थितिकारणस्य लाभे अलाभे च उत्पन्नालंप्रत्ययः । तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च सन्तुष्टः । सततं योगी समाहितचित्तः । यतात्मा संयत-स्वभावः । दृढनिश्चयः, दृढः स्थिरः निश्चयः अध्यवसायः यस्य अध्यात्मतत्त्वविषये स दृढनिश्चयः. मय्यर्पितमनोबुद्धिः संकल्पविकल्पात्मक मनः, अध्यवसायलक्षणाबुद्धिः, ते मय्येव अर्पिते स्थापिते यस्य संन्यासिनः स मय्यर्पितमनोबुद्धिः । यः ईदृशः मद्भक्तः स मे प्रियः ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१२-१५॥

यस्मात् संन्यासिनः न उद्विजते न उद्वेगं गच्छति, न संतप्यते, न संक्षुभ्यति लोकः, तथा लोकात् न उद्विजते च यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः, हर्षश्च अमर्षश्च भयं च उद्वेगश्च तैः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः—हर्षः प्रियलाभे अन्तःकरणस्य उत्कर्षः रोमाञ्चनाश्रु-पातादिलिङ्गः, अमर्षः असहिष्णुता, भयं-त्रासः, उद्वेगः—उद्विग्नता, तैः मुक्तः यः च मे प्रियः ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१२-१६॥

अनपेक्षः—देहेन्द्रियविषयसम्बन्धादिषु अपेक्षा यस्य नास्ति स अनपेक्षः निःस्पृहः । शुचिः, बाह्येन आभ्यन्तरेण च शौचेन सम्पन्नः । दक्षः–प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यः यथावत् प्रतिपत्तुं समर्थः उदासीनः–न कस्यचित् मित्रादेः पक्षं भजते यः सः उदासीनः–यतिः । गतव्यथः—गतभयः, सर्वारम्भपरित्यागी—आरभ्यन्ते इति आरम्भाः इहामुत्र-फलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भा, तान् परित्यक्तुं शीलं अस्येति सर्वा-रम्भपरित्यागी यः मद्भक्तः स मे प्रियः ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान यः सः मे प्रियः ॥१२-१७॥

यः न हृष्यति इष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्रियवियोगे, न च अप्राप्तं कांक्षति, शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलं अस्य इति शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः सः मे प्रियः ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१२–१८॥

समः शत्रौ मित्रे च, तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोः, शीतोष्णसुखदुःखेषु समः, सर्वत्र सङ्गविवर्जितः ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१२–१९॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः निन्दा स्तुतिश्च निन्दास्तुती ते तुल्ये यस्य स तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी-मौनवान् संयतवाक् । सन्तुष्टः येन केनचित्-शरीरस्थितिहेतुमात्रेण । अनिकेतः-निकेतः आश्रयः निवासः नियतः न विद्यते यस्य सः अनिकेतः । स्थिरा परमार्थवस्तुविषया यस्य मतिः सः स्थिरमतिः । भक्तिमान् मे प्रियः नरः ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२–२०॥

ये तु संन्यासिनः धर्म्यामृतं धर्मादनपेतं धर्म्यं च तत् अमृतं च तत्, तत् अमृतत्वहेतुत्वात् । इदं यथोक्तं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादिना, पर्युपासते-अनुतिष्ठन्ति श्रद्दधानाः सन्तः मत्परमाः यथोक्ता अहं अक्षरात्मा परमः निरतिशया गतिः येषां ते मत्परमाः, मद्भक्ता च उत्तमां परमार्थज्ञानलक्षणां भक्तिं आस्थिताः ते अतीव मे प्रिया इति ।

ज्ञानलक्षणम्

श्रीभगवानुवाच—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥१३–७॥

अमानित्वं—मानिनः भावः मानित्वं आत्मनः श्लाघनं, तदभावः अमानित्वम् । अदंभित्वं—स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, तदभावः अदम्भित्वम् । अहिंसा—अहिंसनं प्राणिनां अपीडनम् । क्षान्तिः-परापराधप्राप्तौ अविक्रिया । आर्जवं-ऋजुभावः अवक्रत्वम् आचार्योपासनं—मोक्षसाधनोपदेष्टुः आचार्यस्य शुश्रूषादिप्रयोगेण सेवनम् । शौचं-कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनम्, अन्तश्च मनसः प्रतिपक्षभावनया रागादिमलानां अपनयनं शौचम् । स्थैर्य-स्थिरभावः, मोक्षमार्गे एव कृतव्यवसायित्वम् । आत्मविनिग्रहः-आत्मनः अपकारकतया आत्मशब्दवाच्यस्य कार्यकरणसंघातस्य विनिग्रहः स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सन्मार्गे एव निरोधः आत्मविनिग्रहः ।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥१३–८॥

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु विषययोगेषु विरागभावो वैराग्यं, अनहङ्कारः—अहङ्काराभावः एव च जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं—जन्म च मृत्युश्च जरा च व्याधयश्च दुःखानि च तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम् । जन्मनि गर्भवासयोनिद्वारनिःसरणं दोषः, तस्य अनुदर्शनं आलोचनम् । तथा मृत्यौ दोषानुदर्शनम् । तथा जरायां प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधदोषानुदर्शनं, परिभूतता चेति । तथा व्याधिषु शिरोरोगादिषु दोषानुदर्शनम् । तथा दुःखेषु अध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तेषु । अथवा—दुःखान्येव दोषः दुःखदोषः तस्य जन्मादिषु पूर्ववत् अनुदर्शनं—दुःखं जन्मः दुःखं मृत्युः, दुःखं जरा, दुःखं व्याधयः । दुःखनिमित्तत्वात् जन्मादयः दुःखानि, न पुनः स्वरूपेणैव दुःखं इति । एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनात् देहेन्द्रियादिविषयभोगेषु वैराग्यं उपजायते । ततः प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिः करणानां आत्मदर्शनाय । एवं ज्ञानहेतुत्वात् ज्ञानम् उच्यते दुःखदोषानुदर्शनम् ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥१३–९॥

असक्तिः—सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं, तदभावः असक्तिः । अनभिष्वङ्गः—अभिष्वङ्गाभावः ।अभिष्वङ्गो नाम आसक्तिविशेष एव अनन्यात्मभावनालक्षणः, यथा अन्यस्मिन् सुखिनि दुःखिनि वा 'अहमेव सुखी, अहमेव दुःखी च,' जीवति मृते वा 'अहमेव जीवामि मरिष्यामि च' इति । क्व इति ? आह—पुत्रदार गृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु—'आदि' ग्रहणात् अन्येष्वपि अत्यन्तेष्टेषु दासवर्गादिषु । तच्च उभय ज्ञानार्थत्वात् ज्ञानं उच्यते । नित्यं च समचित्तत्वं—तुल्यचित्तता—क्व ?—इष्टानिष्टोपपत्तिषु—इष्टानां अनिष्टानां च उपपत्तयः संप्राप्तयः तासु इष्टानिष्टोपपत्तिषु । तच्च एतत् नित्यं समचित्तत्वं ज्ञानम् ।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१३–१०॥

मयि च ईश्वरे अनन्ययोगेन—अपृथक् समाधिना 'न अन्यो भगवतो वासुदेवात् परः अस्ति, अतः स एव नः गतिः' इत्येवं निश्चिता अव्यभिचारिणी बुद्धिः अनन्ययोगः, तेन भजनं भक्तिः न व्यभिचरणशीला अव्यभिचारिणी । सा च ज्ञानम् विविक्तदेशसेवित्वम् . विविक्तः स्वभावतः संस्कारेण वा अशुच्यादिभिः सर्पचोरव्याघ्रभयादिभिश्च रहितः, अरण्यनदीपुलिनदेवगृहादिभिर्विविक्तो देशः तं सेवितुं शीलं अस्य इति विविक्तदेशसेवी, तस्य भावः विविक्तदेशसेवित्वम् । विविक्ते हि देशे चित्तं प्रसीदति यतः, ततः आत्मादिभावनाविविक्तः संजायते । अतः विविक्तदेशसेवित्वं ज्ञानं उच्यते । अरतिः अरमणं जनसंसदि, जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानां अविनी-

तानां संसत् समवायः जनसंसत्, न संस्कारवत् विनीतानां संसत्, तस्याः ज्ञानोपकारित्वात्। अतः प्राकृतजनसंसदि अरतिः ज्ञानार्थत्वात् ज्ञानम्।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १३-११ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं—आत्मादिविषयं ज्ञानं अध्यात्मज्ञानं, तस्मिन् नित्यभावः नित्यत्वम्। अमानित्वादीनां (७) ज्ञानसाधनानां भावनापरिपाकनिमित्तं तत्त्वज्ञानं, तस्य अर्थः मोक्षः संसारोपरमः, तस्य आलोचनं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधनानुष्ठाने प्रवृत्तिः स्यादिति। एतत् अमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं उक्तं ज्ञानं इति प्रोक्तं, ज्ञानार्थत्वात्। अज्ञानं यत् अतः—एतस्मात् यथोक्तात् अन्यथा विपर्ययेण—मानित्वं, दम्भित्वं, हिंसा, अक्षान्तिः, अनार्जवं, इत्यादि अज्ञानं विज्ञेयं परिहरणाय, संसारप्रवृत्तिकारणत्वात् इति।

गुणत्रय-विभागयोगः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः॥ १४-१ ॥

परं—'ज्ञानं' इति व्यवहितेन सम्बन्धः—भूयः पुनः पूर्वेषु सर्वेषु अध्यायेषु असकृत् उक्तमपि, प्रवक्ष्यामि। तच्च परं, परवस्तुविषयत्वात्। किं तत् ?—ज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानां उत्तमं, उत्तमफलत्वात्। 'ज्ञानानां' इति न अमानित्वादीनां, किं तर्हि ?—यज्ञादिज्ञेयवस्तुविषयाणां इति। तानि न मोक्षाय, इदं तु मोक्षाय इति परोत्तमशब्दाभ्यां स्तौति श्रोतृबुद्धिरुच्युत्पादनार्थम्। यत् ज्ञात्वा यत् ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य मुनयः—संन्यासिनः मननशीलाः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्यां इतः अस्मात् देहबन्धनात् ऊर्ध्वं गताः प्राप्ताः।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४-५॥

सत्त्वं रजः तमः इति एवंनामानः गुणाः, ते च प्रकृतिसम्भवाः भगवन्मायासम्भूताः निबध्नन्ति इव हे महाबाहो, महान्तौ समर्थतरौ आजानुप्रलम्बौ बाहू यस्य सः महाबाहुः, हे महाबाहो; देहे शरीरे देहिनं देहवन्तं अव्ययम् इति।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥१४-६॥

निर्मलत्वात् स्फटिकमणिरिव प्रकाशकं, अनामयं-निरुपद्रवं, सत्त्वं तत् बध्नाति। कथं ?—सुखसङ्गेन 'सुखी अहं' इति विषयभूतस्य विषयिणि आत्मनि संश्लेषापादनं

मृषैव सुखे सञ्जनम् । सैषा अविद्या । नहि विषयधर्मः विषयिणः भवति । तथा ज्ञान-सङ्गेन च ज्ञानमिति सुखसाहचर्यात् क्षेत्रस्यैव विषयस्य अन्तःकरणस्य धर्मः, न आत्मन, आत्मधर्मत्वे सङ्गानुपपत्तेः बन्धानुपपत्तेश्च । सुखे इव ज्ञानादौ सङ्गः मन्तव्यः । अनघ अव्यसन ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम ॥ १४–७ ॥

रजः रागात्मकं—रञ्जनात् रागः गैरिकादिवद्रागात्मकं—विद्धि जानीहि । तृष्णाऽऽसङ्गसमुद्भवम्—तृष्णा—अप्राप्ताभिलाषः, आसङ्गः—प्राप्ते विषये मनसः प्रीति-लक्षणः संश्लेषः, तृष्णाऽऽसङ्गयोः समुद्भवं तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तत् रजः निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन, दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सञ्जनं तत्परता कर्मसङ्गः, तेन निबध्नाति रजः देहिनम् ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ १४–८ ॥

तमः तृतीयः गुणः, अज्ञानजं—अज्ञानात् जातं अज्ञानजं विद्धि । मोहनं-मोहकरं अविवेककरं सर्वदेहिनां सर्वेषां देहवताम् । प्रमादालस्यनिद्राभिः—प्रमादश्च आलस्यं च निद्रा च प्रमादालस्यनिद्राः, ताभिः प्रमादालस्यनिद्राभिः तत् तमः निबध्नाति भारत !

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १४–९ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति संश्लेषयति, रजः कर्मणि हे भारत ! सञ्जयति इति अनु-वर्तते । ज्ञानं सत्त्वकृतं विवेकं आवृत्य आच्छाद्य तु तमः स्वेन आवरणात्मना प्रमादे सञ्जयति उत प्रमादः प्राप्तकर्तव्याकरणम् ।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१४–१०॥

रजः तमश्च उभावपि अभिभूय सत्त्वं भवति उद्भवति वर्धते यदा, तदा लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यज्ञानसुखादि आरभते हे भारत । तथा रजो गुणः सत्त्वं तमश्च एव उभावपि अभिभूय वर्धते यदा, तदा कर्म तृष्णादि स्वकार्यं आरभते । तथा एव तम आख्यो गुणः सत्त्वं रजश्च उभावपि अभिभूय वर्धते यदा, तदा ज्ञानावरणादि स्वकार्यं आरभते ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥१४–११॥

सर्वद्वारेषु—आत्मनः उपलब्धिद्वाराणि श्रोत्रादीनि सर्वाणि करणानि, तेषु सर्वेषु द्वारेषु अन्तःकरणस्य बुद्धेः वृत्तिः प्रकाशः देहे अस्मिन् प्रकाशशब्दवाच्यः सर्वद्वारेषु उपजायते, तदेव ज्ञानम् । यदा एवं प्रकाशो ज्ञानाख्यः उपजायते, तदा ज्ञानप्रकाशेन लिङ्गेन विद्यात् विवृद्धं उद्भूतं सत्त्वं इति उत अपि ।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१४-१२॥

लोभः परद्रव्यादित्सा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनं सामान्यचेष्टा, आरम्भः—कस्य—कर्मणां, अशमः अनुपशमः—हर्षरागादि प्रवृत्तिः, स्पृहा सर्वसामान्यवस्तुविषया तृष्णा—रजसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ !

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१४-१३॥

अप्रकाशः—अविवेकः, अत्यन्तं अप्रवृत्तिश्च प्रवृत्त्यभावः तत्कार्यं, प्रमादो मोह एव च (तत्कार्यौ) अविवेकः मूढता इत्यर्थः । तमसि गुणे विवृद्धे एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे कुरुनन्दन !

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१४-१६॥

कर्मणः सुकृतस्य—सात्त्विकस्य इत्यर्थः—आहुः शिष्टाः सात्त्विकं एव निर्मलं फलं इति । रजसस्तु फलं दुःखं—राजसस्य कर्मणः इत्यर्थः, कर्माधिकारात्—फलं अपि दुःखं एव, कारणानुरूप्यात् राजसमेव । तथा अज्ञानं तमसः तामसस्य कर्मणः अधर्मस्य फलं पूर्ववत् ।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १४-१७ ॥

सत्त्वात् लब्धात्मकात् सञ्जायते समुत्पद्यते ज्ञानं, रजसोलोभ एव च, प्रमाद-मोहौ प्रमादश्च मोहश्च प्रमादमोहौ उभौ तमसो गुणात् भवतः, अज्ञानमेव च भवति ।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ १४-२० ॥

गुणान् एतान् यथोक्तान् अतीत्य जीवन्नेव अतिक्रम्य मायोपाधिभूतान् त्रीन् देही देहसमुद्भवान् देहोत्पत्तिबीजभूतान् जन्ममृत्युजरादुःखैः जन्म च मृत्युश्च जरा च दुःखानि च जन्ममृत्युजरादुःखानि तैः जीवन्नेव विमुक्तः सन् विद्वान् अमृतं अश्नुते, एवं मद्भावं अधिगच्छति इत्यर्थः ।

दैवासुरसम्पद्विभागयोगः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १६-१ ॥

अभयं अभीरुता, सत्त्वसंशुद्धिः—सत्त्वस्य अन्तः करणस्य संशुद्धिः संव्यवहारेषु परवञ्चनामायाऽनृतादिपरिवर्जनं, शुद्धसत्त्वभावेन व्यवहारः इत्यर्थः। ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानं शास्त्रतः आचार्यतश्च आत्मादिपदार्थानां अवगमः, अवगतानां इन्द्रियाद्युपसंहारेण एकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यतापादनं योगः, तयोः ज्ञानयोगयोः व्यवस्थितिः व्यवस्थानं तन्निष्ठता। एषा प्रधाना दैवी सात्त्विकी सम्पत। यत्र येषां अधिकृतानां या प्रकृतिः सम्भवति, सात्त्विकी स उच्यते। दानं—यथाशक्ति संविभागः अन्नादीनाम् । दमश्च-बाह्यकरणानां उपशमः अन्तः करणस्य उपशमं वक्ष्यति अग्रिमश्लोकद्वयेन । यज्ञश्च श्रौतः अग्निहोत्रादिः, स्मार्तश्च देवयज्ञादिः, स्वाध्यायः ऋग्वेदाध्ययनं अदृष्टार्थम। तपः वक्ष्यमाणं शारीरादि, आर्जवं ऋजुत्वं सर्वदा।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १६-२ ॥

अहिंसा अहिंसनं प्राणिनां पीडावर्जनम् । सत्यं—अप्रियानृतवर्जितं यथाभूतार्थ वचनम्। अक्रोधः—परैः आक्रुष्टस्य अभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्य उपशमनम्। त्यागः संन्यासः—पूर्वं दानस्य उक्तत्वात्। शान्तिः अन्तःकरणस्य उपशमः । अपैशुनं-अपिशुनता; परस्मै पररन्ध्रप्रकटीकरणं पैशुनं तदभावः अपैशुनम्। दया कृपा भूतेषु दुःखितेषु। अलोलुप्त्वं—इन्द्रियाणां विषयसन्निधौ अविक्रिया। मार्दवं मृदुता अक्रौर्यम। ह्रीः लज्जा अचापलं—असति प्रयोजने वाक्पाणिपादादीनां अव्यापारयितृत्वम्।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ १६-३ ॥

तेजः प्रागल्भ्यं, न त्वग्गता दीप्तिः । क्षमा आक्रुष्टस्य अभिहतस्य वा अन्तर्विक्रियाऽनुत्पत्तिः उत्पन्नायां विक्रियायां उपशमनं अक्रोध इति अवोचाम । इत्थं क्षमायाः अक्रोधस्य च विशेषः। धृतिः देहेन्द्रियेषु अवसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकः अन्तःकरणवृत्तिविशेषः, येन उत्तम्भितानि करणानि देहश्च न अवसीदन्ति । शौचं द्विविधं, मृज्जलकृतं बाह्यं, आभ्यन्तरं च मनोबुद्ध्योः नैर्मल्यं मायारागादिकालुष्याभावः, एवं द्विविधं शौचम्। अद्रोहः—परजिघांसाभावः अहिंसनम् । नातिमानिता—अत्यर्थं मानः अतिमानः, स यस्य विद्यते स अतिमानी, तद्भावः अतिमानिता, तदभावः नातिमानिता—आत्मनः पूज्यतातिशयभावनाभावः इत्यर्थः । भवन्ति अभयादीनि

एतदन्तानि सम्पदं अभिजातस्य—किं विशिष्टां सम्पदम् ?—दैवीं; देवानां या सम्पत् तां अभिलक्ष्य जातस्य देवविभूत्यर्हस्य भाविकल्याणस्य इत्यर्थः, हे भारत !

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ १६—४॥

दम्भः—धर्मध्वजित्वम्। दर्पः—विद्याधनस्वजनादिनिमित्तःउत्सेकः। अतिमानः पूर्वोक्तः। क्रोधश्च—पारुष्यमेव च—परुषवचनं—यथा काणं 'चक्षुष्मान्' विरूपं 'रूपवान्' हीनाभिजनं 'उत्तमाभिजनः'—इत्यादि। अज्ञानं च अविवेकज्ञान कर्तव्याकर्तव्यादिविषयमिथ्याप्रत्ययः। अभिजातस्य पार्थ ?—किं अभिजातस्येति ? आह—संपदं आसुरीं—असुराणां सम्पत् आसुरी तां अभिजातस्य इत्यर्थः।

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ १६—५॥

दैवी सम्पत् या सा विमोक्षाय संसार बन्धनात्। निबन्धाय नियतः बन्धः निबन्धः तदर्थं आसुरी सम्पत् मता अभिप्रेता। तथा राक्षसी च। तत्र एवं उक्ते सति अर्जुनस्य अन्तर्गतं भावं "किं अहं आसुरीसम्पद्युक्तः ? किं वा दैवीसम्पद्युक्तः ?' इत्येवं आलोचनारूपं आलक्ष्य आह भगवान्—मा शुचः शोकं मा कार्षीः सम्पदं दैवीं अभिजातः असि अभिलक्ष्य जातोऽसि, भाविकल्याणः त्वं असि इत्यर्थः, हे पाण्डव !

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥१६—६॥

द्वौ द्विसंख्याकौ भूतसर्गौ भूतानां मनुष्याणां सर्गौ सृष्टी भूतसर्गौ सृज्येते इति सर्गौ, भूतान्येव सृज्यमानानि दैवासुरसम्पद्द्वययुक्तानि इति द्वौ भूतसर्गौ इति उच्यते। लोके अस्मिन् संसारे इत्यर्थः। सर्वेषां द्वे विध्योपपत्तेः। कौ तौ भूतसर्गौ इति ? उच्यते-प्रकृतावेव दैवः आसुरः एव च। उक्तयोरेव पुनः अनुवादप्रयोजनं आह-दैवः भूतसर्गः 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिना विस्तरशः-विस्तारप्रकारैः प्रोक्तः कथितः न तु आसुरः विस्तरश; इति। अतः तत्परिवर्जनार्थं—आसुरं पार्थ, मे मम वचनात् उच्यमानं विस्तरशः शृणु-अवधारय।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥१६—७॥

प्रवृत्तिं च प्रवर्तनं, यस्मिन् पुरुषार्थसाधने कर्तव्ये प्रवृत्तिः तां, निवृत्तिं च एतद्विपरीतां, यस्मात् अनर्थहेतोः निवर्तितव्यं सा निवृत्तिः तां च, जनाः आसुराः न विदुः

न जानन्ति। न केवलं प्रवृत्ति-निवृत्ती एव न ते विदुः—न शौचं नापि च आचारः न सत्यं तेषु विद्यते—अशौचाः, अनाचाराः, मायाविनः, अनृतवादिनो हि आसुरा।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥१६–८॥

असत्यं यथा वयं अनृतप्रायाः तथा इदं सर्वं जगत् असत्यं, अप्रतिष्ठं च—न अस्य धर्माधर्मौ प्रतिष्ठा, अतः अप्रतिष्ठं च—इति ते आसुराः जनाः जगत् आहुः अनीश्वरम्—न च धर्माधर्मसव्यपेक्षकः अस्य शासिता ईश्वरः विद्यते इति अतः अनीश्वरं जगत् आहुः। किं च—अपरस्परसम्भूतं—कामप्रयुक्तयोः स्त्री पुरुषयोः अन्योन्यसंयोगात जगत् सर्वं सम्भूतम्। किं अन्यत् कामहेतुकम्—कामहेतुरेव कामहैतुकम्, किं अन्यत् जगतः कारणं ? न किञ्चित् अदृष्टं धर्माधर्मादि कारणान्तरं विद्यते जगतः। 'काम एव प्राणिनां कारणम्, इति लोकायतिकदृष्टिः इयम्।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥१६–९॥

एतां दृष्टिं अवष्टभ्य आश्रित्य नष्टात्मानः नष्टस्वभावाः विभ्रष्टपरलोकसाधनाः अल्पबुद्धयः प्रभवन्ति उद्भवन्ति उग्रकर्माणः क्रूरकर्माणः हिंसात्मकाः। क्षयाय जगतः प्रभवन्ति इति सम्बन्धः। जगतः अहिताः शत्रवः इत्यर्थः।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१६–१०।

कामं—इच्छाविशेषं आश्रित्य-अवष्टभ्य दुष्पूरं—अशक्यपूरणं, दम्भमानमदान्विताः—दम्भश्च, मानश्च, दम्भमानमदाः तैः अन्विताः दम्भमानमदान्विताः, मोहात्-अविवेकतः गृहीत्वा उपादाय, असद्ग्राहान्—अशुभनिश्चयान्, प्रवर्तन्ते लोके अशुचिव्रताः—अशुचीनि व्रतानि येषां ते अशुचिव्रताः।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥१६–११॥

चिन्तां अपरिमेयां च, न परिमातुं शक्यते यस्याः चिन्तायाः इयत्ता, सा अपरिमेया, तां अपरिमेयां, प्रलयान्तां मरणान्तां, उपाश्रिताः सदा चिन्तापरा इत्यर्थः कामोपभोगपरमाः, काम्यन्ते इति कामाः विषयाः शब्दादयः, तदुपभोगपरमाः अयमेव परमः पुरुषार्थः यः कामोपभोगः, इत्येवं निश्चितात्मानः, एतावदिति निश्चिताः।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१६–१२॥

आशापाशशतैः—आशा एव पाशाः तच्छतैः आशापाशशतैः बद्धाः नियन्त्रिताः सन्तः सर्वतः आकृष्यमाणाः, कामक्रोधपरायणाः—कामक्रोधौ परं अयनं-आश्रयः येषां ते कामक्रोधपरायणाः, ईहन्ते चेष्टन्ते कामभोगार्थं—कामभोगप्रयोजनाय न धर्मार्थं, अन्यायेन परस्वापहरणादिना इत्यर्थः—किं ?—अर्थसञ्चयान्—अर्थ-प्रचयान् ।

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१६-१३॥

इदं द्रव्यं अद्य इदानीं मया लब्धम् । इदं च अन्यत् प्राप्स्ये मनोरथं—मनस्तुष्टिकरं । इदं च अस्ति इदमपि मे भविष्यति—आगामिनि संवत्सरे पुनः धनं, तेन अहं धनी विख्यातः भविष्यामि इति ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१६-१४॥

असौ देवदत्तनामा मया हतः दुर्जयः शत्रुः । हनिष्ये च अपरान् अन्यान् वराकान् अपि । किं एते करिष्यन्ति तपस्विनः ? सर्वथाऽपि नास्ति मत्तुल्यः । कथं—ईश्वरः अहं, अहं भोगी । सर्वप्रकारेण च सिद्धः अहं सम्पन्नः पुत्रैः नप्तृभिः, न केवलं मानुषः, बलवान् सुखी च अहमेव ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञाना विमोहिताः ॥१६-१५॥

आढ्यः धनेन, अभिजनवान् आप्तपुरुषं श्रोत्रियत्वादिसम्पन्नः—तेनापि न मम तुल्यः कश्चित् । कः अन्यः अस्ति सदृशः तुल्यः मया ? किं च—यक्ष्ये—योगेनापि अन्यान् अभिभविष्यामि, दास्यामि नटादिभ्यः, मोदिष्ये हर्षं च अतिशयं प्राप्स्यामि । इति एवं अज्ञानविमोहिताः—अज्ञानेन विमोहिताः विविधं अविवेकभावमापन्नाः ।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६-१६ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ताः—उक्त प्रकारैः अनेकैः चित्तैः विविधं भ्रान्ताः अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः—मोहः अविवेकः अज्ञानं तदेव जालमिव आवरणात्मकत्वात् । तेन समावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु—तत्रैव निषण्णाः सन्तः तेन उपचितकल्मषाः, पतन्ति नरके अशुचौ—वैतरण्यादौ ।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्तै दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १६-१७ ॥

आत्मसम्भाविताः—सर्वगुणविशिष्टतया आत्मनैव सम्भाविताःआत्मसम्भाविताः, न साधुभिः । स्तब्धाः अप्रणतात्मानः । धनमानमदान्विताः—धननिमित्तः मानः मदश्च,

ताभ्यां धनमानमदाभ्याम् अन्विताः । यजन्ते नामयज्ञैः नाम-मात्रैः यज्ञैः ते दम्भेन धर्म-ध्वजितया अविधिपूर्वक-विधिविहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितम् ।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १६-१८ ॥

अहङ्कारं—अहङ्करणं अहङ्कारः—विद्यमानैः अविद्यमानैश्च गुणैः आत्मनि अध्यारोपितैः विशिष्टमात्मानं 'अहं' इति मन्यते सः अहङ्कारः अविद्याख्यः कष्टतमः, सर्वदोषाणां मूलं सर्वानर्थप्रवृत्तीनां च, तम् । तथा बलं पराभिभवनिमित्तं कामरागान्वितम् दर्पं—दर्पो नाम यस्य उद्भवे धर्मं अतिक्रामतीति सः अयं अन्तःकरणाश्रयः दोषविशेषः । कामं स्त्र्यादि विषयम् । क्रोधं अनिष्टविषयं—एतान् अन्यांश्च महतो दोषान् संश्रिताः । किं च—ते मां ईश्वरं आत्मपरदेहेषु च तद् बुद्धिकर्म साक्षिभूतं मां प्रद्विषन्तो मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषः, तं कुर्वन्तः अभ्यसूयकाः सन्मार्गस्थानां गुणेषु असहमानाः ।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१६-१९॥

तान् अहं सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान् साधुद्वेषिणः द्विषतः च मां क्रूरान् संसारेषु एवं अनेकनरकसंसारमार्गेषु नराधमान् अधर्मं दोषवत्त्वात् क्षिपामि-प्रक्षिपामि । अजस्रं सन्ततं, अशुभान् अशुभकर्मकारिणः आसुरीष्वेव क्रूरकर्मप्रायासु व्याघ्रसिंहादियोनिषु—क्षिपामि' इत्यनेन सम्बन्धः ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥१६-२०॥

आसुरीं योनिं आपन्नाः प्रतिपन्नाः मूढाः—अविवेकिनः जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म तमोबहुलास्वेव योनिषु जायमानाः अधो गच्छन्तः मूढाः मां ईश्वरं अप्राप्य अनासाद्य एव, हे कौन्तेय, ततः तस्मादपि यान्ति अधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६-२१॥

त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं नाशनं आत्मनः, यत् द्वारं प्रविशन्नेव नश्यति आत्मा; कस्मैचित् पुरुषार्थाय योग्यो न भवति इत्येतत् उच्यते । 'द्वारं नाशन मात्मनः' इति । किं तत् ?—कामः क्रोधः तथा लोभः । तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत् । यतः एतत् द्वारं नाशनं आत्मनः, तस्मात् कामादित्रयं एतत् त्यजेत् ।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥१६-२२॥

एतैः विमुक्तः कौन्तेय ? तमोद्वारैः तमसः नरकस्य दुःखमोहात्मकस्य द्वाराणि कामादयः तैः एतैः त्रिभिः विमुक्तः नरः आचरति—अनुतिष्ठति—किं ?—आत्मनः श्रेयः। यत्प्रतिबद्धः पूर्वं न आचचार, तदपगमात् आचरति । ततः तदाचरणात् याति परां गतिम् मोक्षमपि याति ।

श्रद्धात्रय-विभागयोगः

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥१७-२॥

त्रिविधा त्रिप्रकारा भवति श्रद्धा यस्यां निष्ठायां त्वं पृच्छसि–देहिनः शरीरिणां सा स्वभावजा जन्मान्तरकृतधर्मादिसंस्कारः मरणकाले अभिव्यक्तः 'स्वभावः' इत्युच्यते ततो जाता स्वभावजा । सात्त्विकी-सत्त्वनिर्वृत्ता देवपूजादि विषया । राजसी-रजो निर्वृत्ता यक्षरक्षःपूजादिविषया । तामसी तमो निर्वृत्ता प्रेतपिशाचादिपूजादिविषया। एवं त्रिविधां तां उच्यमानां श्रद्धां शृणु अवधारय ।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥१७-३॥

सत्त्वानुरूपा–विशिष्टसंस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति भारत ! यदि एवं ततः किं स्यादिति ? उच्यते–श्रद्धामयः श्रद्धाप्रायः अयं पुरुषः संसारी जीवः। कथं ?–यः यच्छ्रद्धः; या श्रद्धा यस्य जीवस्य स यच्छ्रद्धः स एव तच्छ्रद्धानुरूप एव सः जीवः ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥१७-७॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य भोक्तुः प्राणिनः त्रिविधो भवति प्रियः इष्टः; तथा यज्ञः; तथा तपः; तथा दानम् । तेषां आहारादीनां भेदं इमं वक्ष्यमाणं शृणु ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥१७-८॥

आयुश्च सत्त्वं च बलं च आरोग्यं च सुखं च प्रीतिश्च आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतयः तासां आयुःसत्त्वादीनां विवर्धनाः; ते च रस्याः रसोपेताः स्निग्धा स्नेहवन्तः; स्थिरा चिरकालस्थायिनः देहे हृद्या हृदयप्रिया आहाराः सात्त्विकप्रियाः सात्त्विकस्य इष्टाः ।

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥१७–९॥

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णरूक्षविदाहिनः—इत्यत्र अति शब्दः कट्वादिषु सर्वत्र योज्यः, 'अतिकटुः, 'अतितीक्ष्णः, इत्येवं—कटुश्च अम्लश्च लवणश्च अत्युष्णश्च तीक्ष्णश्च रूक्षश्च विदाही च ते आहाराः राजसस्य इष्टाः, दुःखशोकामयप्रदाः—दुःखं च शोकं च आमयं च प्रयच्छन्तीति दुःखशोकामयप्रदाः ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस-प्रियम् ॥१७–१०॥

यातयामं मन्दपक्वं, निर्वीर्यस्य गतरसशब्देन उक्तत्वात् । गतरसं रसवियुक्तम्, पूति दुर्गन्धि, पर्युषितं च पक्वं सत् रात्र्यन्तरितं च यत्, उच्छिष्टमपि भुक्तशिष्टं उच्छिष्टं, अमेध्यं अयज्ञार्हं, भोजनं ईदृशं तामसप्रियम् ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७–१४॥

देवाश्च द्विजाश्च, गुरवश्च प्राज्ञाश्च देवद्विजगुरुप्राज्ञाः तेषां पूजनं देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं, शौचः आर्जवं ऋजुत्वं ब्रह्मचर्यं अहिंसा च शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं शरीरप्रधानैरेव सर्वैः कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं तपः उच्यते ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१७–१५॥

यत् वाक्यं सत्यं अनुद्वेगकरं प्राणिनां अदुःखकरं, प्रियं हितं च तथा स्वाध्यायस्य अभ्यसनं अभ्यासः वाङ्मयं तपः उच्यते ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१७–१६॥

मनः प्रसादः—मनसः प्रशान्तिः, स्वच्छतापादनं प्रसादः । सौम्यत्वं—यत् सौमनस्यं आहुः—मुखादि प्रसादादिकार्योन्नेया अन्तःकरणस्य वृत्तिः । मौनं—वाङ्नियमः । आत्मविनिग्रहः—मनोनिरोधः । भावसंशुद्धिः—परैः व्यवहारकाले अमायावित्वं इति एतत् मानसं तपः उच्यते ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७–१७॥

श्रद्धया—आस्तिक्य बुद्ध्या, परया—प्रकृष्टया, तप्तं अनुष्ठितं तपः तत् प्रकृतं त्रिविधं त्रिप्रकारं त्र्यधिष्ठानं नरैः अनुष्ठातृभिः अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैः–

युक्तैः समाहितैः—यत् ईदृशं तपः तत् सात्त्विकं सत्त्वनिर्वृतं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १७–१८ ॥

सत्कारः साधुकारः तदर्थम्, मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादिः तदर्थं, पूजा—पादप्रक्षालनार्चनाशयितृत्वादि तदर्थं च तपः सत्कारमानपूजार्थं, दम्भेन चैव यत् क्रियते तपः तत् इह प्रोक्तं कथितं राजसं चलं कादाचित्कफलत्वेन अध्रुवम्।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम ॥ १७–१९ ॥

मूढग्राहेण अविवेकनिश्चयेन आत्मनः पीडया यत् क्रियते तपः परस्य उत्सादनार्थं वा तत् तामसं तपः उदाहृतम्।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १७–२०

दातव्यमिति एवं मनः कृत्वा यत् दानं दीयते अनुपकारिणे—प्रत्युपकारासमर्थाय, समर्थायापि निरपेक्षं दीयते, देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ, काले संक्रान्त्यादौ, पात्रे च षडङ्गविद्वेदपारगे च इत्यादौ तत् दानं सात्विकं स्मृतम्।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ १७–२१ ॥

यत्तु दानं प्रत्युपकारार्थं—काले तु अयं मां प्रत्युपकरिष्यतीत्येवमर्थं, फलं वा, अस्य दानस्य मे भविष्यति अदृष्टं इति, तत् उद्दिश्य पुनः दीयते च परिक्लिष्टं—खेदसंयुक्तं, तत् दानं राजसं स्मृतम।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १७–२२ ॥

अदेशकाले—अदेशे-अपुण्यदेशे म्लेच्छाशुच्यादिसंकीर्णे, अकाले पुण्यहेतुत्वेन अप्रख्याते संक्रान्त्यादिविशेषरहिते, अपात्रेभ्यश्च मूर्खतस्करादिभ्यः, देशादिसम्पत्तौ वा असत्कृतं—प्रियवचनपादप्रक्षालनं पूजादिरहितं अवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च यत दानं, तत् तामसं उदाहृतम्।

उपसंहारः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिषूदन ॥ १८–१ ॥

संन्यासस्य—संन्यासशब्दार्थस्य इत्येतत्—हे महाबाहो ! तत्त्वं तस्य भावः तत्त्वं, याथात्म्यमित्येतत्, इच्छामि वेदितुं ज्ञातुं; त्यागस्य च—त्यागशब्दार्थस्येत्येतत्, हृषीकेश ! पृथक् इतरेतरविभागतः, केशिनिषूदन ! केशिनामा हयच्छद्मा कश्चित् असुरः, तं निषूदितवान् भगवान् वासुदेवः, तेन तन्नाम्ना सम्बोध्यते अर्जुनेन ।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥१८–२॥

काम्यानां अश्वमेधादीनां कर्मणां न्यासं—परित्यागं संन्यासं संन्यासशब्दार्थं, अनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्य अनुष्ठानं, कवयः—पण्डिताः, केचित् विदुः विजानन्ति । नित्यनैमित्तिकानां अनुष्ठेयमानानां सर्वकर्मणां आत्मसम्बन्धितया प्राप्तस्य फलस्य त्यागः सर्वकर्मफलत्यागः तं प्राहुः कथयन्ति त्यागं त्यागशब्दं विचक्षणाः—पण्डिताः—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !
संगं त्यक्त्वा फलं चैव सः त्यागः सात्त्विको मतः ॥१८–६॥

कार्यं कर्तव्यं इत्येवं यत् कर्म नियतं नित्यं क्रियते निर्वर्त्यते हे अर्जुन ! सङ्गं त्यक्त्वा फलं च एव । एतत्—नित्यानां कर्मणां फलवत्त्वे भगवद्वचनं प्रमाणं अवोचाम । अथवा—यद्यपि फलं न श्रूयते नित्यस्य कर्मणः नित्यं कर्म कृतं आत्मसंस्कारं प्रत्यवायपरिहारं वा फलं करोति आत्मनः इति कल्पयत्येव अज्ञः । तत्र तामपि कल्पनां निवारयति 'फलं त्यक्त्वा' इत्यनेन । अतः साधु उक्तं 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं च' इति । सः त्यागः नित्यकर्मसु 'सङ्गफलपरित्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तः मतः अभिप्रेतः ।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१८–११॥

न हि यस्मात् देहभृता—देहं बिभर्तीति देहभृत्—देहात्माभिमानवान् देहभृत् उच्यते, न हि विवेकी; अतः तेन देहभृता अज्ञेन न शक्यं त्यक्तुं संन्यसितुं कर्माणि अशेषतः निःशेषेण । तस्मात् यस्तु अज्ञः अधिकृतः नित्यानि कर्माणि कुर्वन् कर्मफलत्यागी कर्मफलाभिसन्धिमात्रसंन्यासी स त्यागी इति अभिधीयते कर्मी अपि सन्

इति—स्तुत्यभिप्रायेण । तस्मात्परमार्थदर्शिनैव अदेहभृता देहात्मभावरहितेन अशेष-कर्मसंन्यासः शक्यते कर्तुम् ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १८–१३ ॥

पञ्च एतानि वक्ष्यमाणानि हे महाबाहो ! कारणानि निर्वर्तकानि निबोध मे इति उत्तरत्र चेतःसमाधानार्थं, वस्तु वैषम्यप्रदर्शनार्थं च । तानि च कारणानि ज्ञातव्यतया स्तौति—सांख्ये, ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत् सांख्यं-वेदान्तः कृतान्ते इति तस्यैव विशेषणम्—कृतं इति कर्म उच्यते तस्य अन्तः परिसमाप्तिः यत्र सः कृतान्तः कर्मान्तः इत्येतत् । अतः तस्मिन आत्मज्ञानार्थे सांख्ये कृतान्ते वेदान्ते प्रोक्तानि कथितानि सिद्धये निष्पत्त्यर्थं सर्वकर्मणाम् ।

कानि तानीति ? उच्यते—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टाः दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १८–१४ ॥

अधिष्ठानं इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनां अभिव्यक्तिः आश्रयः अधिष्ठानं शरीरं, तथा कर्ता उपाधिलक्षणः भोक्ता, करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धये पृथग्विधं नाना-प्रकारं तत् द्वादश-संख्यं, विविधाश्च पृथक्चेष्टाः वायवीयाः प्राणापानाद्याः, दैवं चैव दैवमेव च अत्र एतेषु चतुर्षु पंचमं पञ्चानां पूरणं आदित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकम् ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ १८–३६ ॥

सुखं तु इदानीं त्रिविधं शृणु—समाधानं कुरु इत्येतत् मे मम भरतर्षभ ! अभ्यासात् परिचयात् आवृत्तेः रमते रतिं प्रतिपद्यते यत्र यस्मिन् सुखानुभवे दुःखान्तं च दुःखावसानं दुःखोपशमं च निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति ।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ १८–३७ ॥

यत् तत् सुखं अग्रे पूर्वं प्रथमसन्निपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भे अत्यन्तायासपूर्वकत्वात् विषमिव दुःखात्मकं भवति, परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाकजं सुखं अमृतोपमं, तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं विद्वद्भिः आत्मनः बुद्धिः आत्मबुद्धिः, आत्मबुद्धेः प्रसादः नैर्मल्यं सलिलस्य इव स्वच्छता, ततः जातं आत्मबुद्धिप्रसादजम् आत्मविषया वा आत्मावलम्बना बुद्धिः आत्मबुद्धिः तत्प्रसादप्रकर्षाद्वा जातमित्येतत् । तस्मात् सात्त्विकं तत् ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १८–३८ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगात् जायते यत्सुखं तत् सुखं अग्रे प्रथमक्षणे अमृतोपमं अमृतसमं, परिणामे विषमिव, बलवीर्यरूपप्रज्ञामेधाधनोत्साहहानिहेतुत्वात् अधर्म-तज्जनितनरकादिहेतुत्वाच्च परिणामे तदुपभोगपरिणामान्ते विषमिव, तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १८–३९ ॥

यत् अग्रे च अनुबन्धे च अवसानोत्तरकाले च सुखं मोहनं मोहकरं आत्मनः निद्रालस्यप्रमादोत्थं—निद्रा च आलस्यं च प्रमादश्च तेभ्यः समुत्तिष्ठति निद्रालस्य-प्रमादोत्थं, तत् तामसं उदाहृतम् ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ १८–४० ॥

न तत् अस्ति तत् नास्ति पृथिव्यां वा मनुष्यादिषु सत्त्वं प्राणिजातं, अन्यद्वा अप्राणि, दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं, प्रकृतिजैः प्रकृतितः जातैः एभिः त्रिभिः गुणैः सत्त्वादिभिः मुक्तं परित्यक्तं यत् स्यात् भवेत्–'न तत् अस्ति' इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ १८–५८ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुस्तराणि संसारहेतुजातानि मत्प्रसादात् तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । अथ चेत् यदि त्वं मदुक्तं अहङ्कारात् 'पण्डितः अहं' इति न श्रोष्यसि न ग्रहीष्यसि, ततः त्वं विनङ्क्ष्यसि विनाशं गमिष्यसि ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८–६१ ॥

ईश्वरः ईशनशीलः नारायणः सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृद्देशे हृदयदेशे हे अर्जुन शुक्लान्तरात्मस्वभाव ! विशुद्धान्तः करणं, तिष्ठति स्थितिं लभते । तेषु सः कथं तिष्ठतीति ? आह–भ्रामयन् भ्रमणं कारयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि यन्त्राणि आरूढानि अधिष्ठितानि इव–इति इव-शब्दः अत्र द्रष्टव्यः–यथा दारुकृतपुरुषादीनि यन्त्रारूढानि । मायया छद्मना भ्रामयन् तिष्ठति इति सम्बन्धः ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८–६२ ॥

तमेव ईश्वरं शरणं आश्रयं संसारार्तिहरणार्थं गच्छ-आश्रय, सर्वभावेन सर्वात्मना हे भारत ! ततः तत्प्रसादात् ईश्वरानुग्रहात् परां प्रकृष्टां शान्तिं उपरतिं स्थानं च मम विष्णोः परमं पदं प्राप्स्यसि शाश्वतं नित्यम् ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८-६३ ॥

इति एतत् ते तुभ्यं ज्ञानं आख्यातं कथितं गुह्यात् गोप्यात् गुह्यतरं अतिशयेन गुह्यं रहस्यं इत्यर्थः, मया सर्वज्ञेन ईश्वरेण । विमृश्य विमर्शनं आलोचनं कृत्वा एतत् यथोक्तं शास्त्रं अशेषेण समस्तं यथोक्तं च अर्थजातं यथा इच्छसि तथा कुरु ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८-६५ ॥

मन्मना भव—मच्चित्तः भव । मद्भक्तः भव—मद्भक्तजनो भव । मद्याजी—मद्यजनशीलो भव । मां नमस्कुरु—नमस्कारं अपि ममैव कुरु । तत्र एवं वर्तमानः वासुदेवे एव समर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनः मामेव एष्यसि आगमिष्यसि । सत्यं ते तव प्रतिजाने सत्यां प्रतिज्ञां करोमि एतस्मिन् वस्तुनि इत्यर्थः, यतः प्रियः असि मे ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८-६६ ॥

सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च तान्—धर्मशब्देन अत्र अधर्मोऽपि गृह्यते, नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात् , सर्वधर्मान्—परित्यज्य संन्यस्य सर्वकर्माणि इत्येतत् । मां एकं सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थितं ईश्वरं 'अहमेव' इत्येव शरणं व्रज, न मत्तः अन्यत् अस्ति इति अवधारय इत्यर्थः । अहं त्वा त्वां एवंनिश्चितबुद्धिं सर्वपापेभ्यः सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यः मोक्षयिष्यामि स्वात्मभावप्रकाशीकरणेन, इत्यतः मा शुचः शोकं मा कार्षीः इत्यर्थः ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥१८-६७॥

इदं शास्त्रं ते तव हिताय मया उक्तं संसारविच्छित्तये, अतपस्काय तपोरहिताय न वाच्यं इति व्यवहितेन सम्बध्यते । तपस्विनेऽपि अभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय कदाचन कस्यांचिदपि अवस्थायां न वाच्यम् । भक्तः तपस्वी अपि सन् अशुश्रूषुः यो भवति तस्मै अपि न वाच्यम् । न च यो मां वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वा अभ्यसुयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन ईश्वरत्वं मम अजानन् न सहते, असावपि अयोग्यः तस्मै अपि न वाच्यम् । भगवति अनसुयायुक्ताय, तपस्विने, भक्ताय, शुश्रूषवे वाच्यं शास्त्र इति सामर्थ्यात् गम्यते ।

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय ॥ १८-७२ ॥

कच्चित् किं एतत् मया उक्तं श्रुतं श्रवणेन अवधारितं पार्थ ? त्वया एकाग्रेण चेतसा—चित्तेन ? किं वा अप्रमादतः ? कच्चित् अज्ञानसम्मोहः– अज्ञाननिमित्तः सम्मोहः अविविक्तभावः अविवेकः स्वाभाविकः किं प्रणष्टः ? यदर्थं अयं शास्त्रश्रवणायासः तव, मम च उपदेष्टृत्वायासः प्रवृत्तः– ते तव हे धनञ्जय ! ॥

अर्जुन उवाच–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥१८-७३॥

नष्टः मोहः अज्ञानजः समस्तसंसारानर्थहेतुः, सागर इव दुरुत्तारः स्मृतिश्च–आत्मतत्त्वविषया लब्धा–यस्याः लाभात् सर्वहृदयग्रन्थीनां विप्रमोक्षः–त्वत्प्रसादात् तव प्रसादात् मया त्वत्प्रसादं आश्रितेन अच्युत । अथ इदानीं त्वच्छासने स्थितः अस्मि गतसन्देहः–मुक्तसंशयः । करिष्ये वचनं तव । अहं त्वत्प्रसादात् कृतार्थः, । न मे कर्तव्यं अस्ति इत्यभिप्रायः ॥

सञ्जय उवाच–

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ १८-७४ ॥

इति एवं अहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः संवाद इमं यथोक्तं अश्रौषं श्रुतवान् अस्मि अद्भुतं अत्यन्तविस्मयकरं, रोमाञ्चकरम् ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यतमं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥१८-७५॥

व्यासप्रसादात् ततः दिव्यचक्षुर्लाभात् श्रुतवान् इमं संवादं गुह्यतमं परं योगं योगार्थत्वात् ग्रन्थोऽपि योगः संवादं इमं योगमेवं वा योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्, न परम्परया ।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥१८-७६॥

हे राजन् धृतराष्ट्र ! संस्मृत्य संस्मृत्य प्रतिक्षणं संवादं इमं अद्भुतं केशवार्जुनयोः पुण्यं इमं श्रवणेनापि पापहरं श्रुत्वा हृष्यामि च मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणम् ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतम् हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥१८-७७॥

यच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपं अत्यद्भुतं हरेः विश्वरूपं; विस्मयो मे महान् राजन्! हृष्यामि च पुनः पुनः ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ १८–७८ ॥

यत्र—यस्मिन् पक्षे योगेश्वरः सर्वयोगानां ईश्वरः—तत्प्रभवत्वात् सर्वयोगबीजस्य—कृष्णः यत्र पार्थः यस्मिन् पक्षे धनुर्धरः गाण्डीवधन्वा. तत्र श्रीः— तस्मिन् पाण्डवानां पक्षे श्रीः विजयः, तत्र वै भूतिः—श्रियो विशेषः विस्तारः धृतिः, ध्रुवा अव्यभिचारिणी नीतिः—नयः, इत्येवं मतिः मम इति ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतोपदेशः अन्वयार्थदीपनीटीकासहितः समाप्तः ।

अथ महाकवि अश्वघोषविरचिते बुद्धचरिते
सप्तमः सर्गः

वनविहारापदेशेन भार्गवस्याश्रममुपगतः सिद्धार्थश्छन्दकाय स्वाशयं निवेद्य व्याधरूपधारिणा दिवौकसा दत्तं वन्यं वासः परिधायाश्रमाभिमुखं ययाविति आश्रमवर्णनं प्रस्तौति कविः ।

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः ।
सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥ १ ॥

ततः स्वाशयकथनानन्तरम्, रुदन्तं सिद्धार्थस्य राज्यानिःस्पृहत्वं विभाव्य विलपन्तम्, अत एवाश्रुमुखमश्रूणि मुखे यस्य तम्, छन्दं तन्नामकात्म सारथिनं विसृज्य त्यक्त्वा राजधानीं प्रति प्रस्थाप्येतियावत् । वनस्य छन्द आशयः 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । तस्यभावस्तत्ता तया वनवासाभिप्रायेण । निर्गता सांसारिक पदार्थेभ्य आस्था आसक्तिर्यस्य स मुक्तसंगः । यस्मिञ्जाते राजकुलस्य सर्वेषामर्थानां सिद्धिर्जाता स सर्वार्थसिद्धः सिद्धः अणिमादिसिद्धिसम्पन्न इव वपुषा श्रेष्ठयाकृत्या 'वपुः क्लीवं तनौ शस्ताकृतावपि' इति मेदिनी । तं भार्गवस्याश्रमम् अभिभूय वशीकृत्य प्रपेदे प्राप्तवान् । सर्गेऽस्मिन्प्रायेणोपजाति वृत्तम् विशेषन्तु तत्र तत्र वक्ष्यते ।

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः ।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥२॥

मृगाणां राजा मृगराजः सिंहः स इव गच्छतीति मृगराजगामी स राजसूनुः राजपुत्रः सिद्धार्थः तद् गम्यमानम् मृगाजिरं मृगप्राङ्गणं अजिरं प्राङ्गणे वाते इत्यमरः । मृगवत्प्रविष्टः मृग इव निर्भयः सन् प्रविष्टवान् । लक्ष्मीवियुक्तोऽपि राजलक्ष्मीर-हितोऽपि सिद्धार्थः शरीरलक्ष्म्या शारीरिकसौन्दर्येण करणेन सर्वेषामाश्रमिणाम् आश्रम-वासिनां चक्षूंषि नेत्राणि दृष्टिमितिभावः जहार अहरत् चकर्ष वा ।

स्थिता हि हस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः ।
तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धावनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

हस्तेषु स्थिता युगा हलाद्यङ्गानि योक्त्रादीनि येषाम्। 'युगो रथहलाङ्गे' इति-मेदिनी। क्रियतेऽनेन कार्यमिति चक्रम् किमपि कृषियोग्यसाधनम्। तच्चक्रं धरन्तीति चक्रधराः। दारैः स्त्रीभिः सह वर्तमानाः सदाराः कृषका इति शेषः, भार्या जायाथ पुंभूम्निदाराः' इत्यमरः। कौतूहलात्कौतुकात्। 'कौतूहलं च' इत्यमरः। तथैव स्वस्थानेषु स्थिता हि स्थिता एव। 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः। धुर्या धूर्वहा वृषभा इव 'धूर्वहे धुर्यधौरेय' इत्यमरः। अर्धावनतैः शिरोभिरुपलक्षिताः तमिन्द्रकल्पम् इन्द्रसदृशं तं सिद्धार्थं ददृशुर्दृष्टवन्तः जग्मुर्न गन्तव्यस्थानानि न गताः।

विप्राश्च गत्वा बहिरिध्महेतोः प्राप्ताः समित्पुष्पपवित्रहस्ताः।
तपः प्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः॥ ४॥

च तथा इध्महेतोः समिदर्थम् आश्रमाद्बहिर्गत्वा प्राप्ताः सम्मिलिताः सन्तः, समिधः यज्ञाय इन्धनानि, 'इन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित स्त्रियाम्' इत्यमरः। पुष्पाणि, पवित्राणि कुशाश्च 'पवित्रं तु मेध्ये ताम्रे कुशे जले, इति हैमः। हस्तेषु येषाम्, तपः प्रधानं मुख्यं कर्म येषाम्, कृता सम्पादिता बुद्धिर्यैस्ते शास्त्राभ्यासेन विशुद्धभावा अपि विप्रा ऋषयः तं राजपुत्रं द्रष्टुमीयुः द्रष्टुं गताः। मठान् स्वनिवासस्थानानि 'मठश्छात्रादिनिलयः। इत्यमरः। नेयुर्न गताः।

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणाश्च॥५॥

च तथा नीलं नीलवर्णं सजलमितिभावः। अम्बुदं जलदं दृष्ट्वा विलोक्य इव। हृष्टाः प्रसन्ना, उन्नमन्त ऊर्ध्वग्रीवा मयूराः केकिनः केकाः वचांसि 'केका वाणी मयूरस्य, इत्यमरः। मुमुचुस्त्यक्तवन्तः, कृतवन्त इत्यर्थः। च तथा चलाक्षा लोललोचना मृगा हरिणाः, शष्पाणि बालतृणानि 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः हित्वा त्यक्त्वा, अभिमुखास्तस्थुः सम्मुखे स्थिताः। च एवं मृगा इव चरन्तीति मृगचारिणः अन्ये पशवोऽपि तथैव तस्थुः।

दृष्ट्वा तमिक्ष्वाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम्।
कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्नुवुर्होमदुहश्च गावः॥ ६॥

अंशवः किरणाः सन्त्यस्येति अंशुमान् सूर्यः 'अंशुमान् भास्करेरवौ इति मेदिनी तमिव उद्यन्तम् उदीयमानम्, ज्वलन्तं भ्राजिष्णुम्, इक्ष्वाकुकुलप्रदीपम् इक्ष्वाकुकुल-प्रकाशकं तं सिद्धार्थं दृष्ट्वा जनितप्रमोदा उत्पन्नहर्षातिरेका अत्यर्थं प्रसन्नाः होमाय यज्ञाय दुह्यन्त इति होमदुहः गावः यज्ञधेनवः दोहे कृतेऽपि दोहनक्रियायां जातायामपि प्रसुस्नुवुः प्रस्नुतवत्यः प्रसादाधिक्येन दुग्धं मुमुचुः।

कच्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादश्विनोरन्यतरश्च्युतो वा ।
उच्चैरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

कच्चिद् इष्टप्रश्ने 'कच्चित्काम प्रवेदने । इत्यमरः । कश्चित् कदाचिद् अयं एष राजपुत्रः, वसूनां गणदेवताविशेषाणाम् 'आदित्य-विश्व-वसवस्तुषिताभास्वरानिलाः, महाराजिकसाध्याश्च रुद्राश्च गणदेवताः, इत्यमरः अष्टमो वसुः प्रभासाख्यः स्याद् भवेत् । वा अथवा अश्विनोः अश्विनीकुमारसंज्ञकदेवयोः अन्यतर एकतरः च्युतः पदभ्रष्टः अत्र पतितो वा भवेत् तत् तस्य सिद्धार्थस्य दर्शनाद् यो विस्मयः आश्चर्यस्तस्माज्जाता उत्पन्ना इति पूर्वार्द्धोक्ता मुनीनां वाचस्तत्र आश्रमे उच्चैः उच्चस्वरेण उच्चेरुः उच्चारणं गताः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

लेखर्षभस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य ।
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

लेखेषु देवेषु ऋषभः श्रेष्ठ इन्द्रः 'जिष्णुर्लेखर्षभः शक्रः, इत्यमरः । तस्य द्वितीयमपरं वपुः शरीरमिव, चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकस्य धामेव तेज इव, 'धाम शक्तौ प्रभावे च तेजो-मन्दिर-जन्मसु' इत्यमरः । यदृच्छयास्वेच्छया अवतीर्णः अध आगतः सूर्य इव स राजपुत्रः हि निश्चयेन कृत्स्नमखिलं वनं तपोवनं द्योतयामास प्रकाशितवान् ।

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च ।
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ६ ॥

ततः राजपुत्रदर्शनजविस्मयानन्तरम् । तैः उक्तैः आश्रमिभिः आश्रमवासिभिस्तपोधनैः उपनिमन्त्रितः समीपमाहूतः च तथा यथावद् यथोचितम् अभ्यर्चितः सत्कृतः स सिद्धार्थः, अम्भसा जलेन सहितो योऽम्बुधरः जलधरः तदुपमेन तत्सदृशेन स्वरेण गभीरया स्निग्धया च वाचा तपोधनानां सत्कारं स्वीकृत्य धर्मभृतः धर्मात्मनः तांस्तपोधनान प्रत्यर्चयां बभूव प्रतिपूजितवान् ।

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकाम ।
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥१०॥

विमुक्तिः मोक्षः जन्मजरान्तकादिभ्य इति भावः कामः यस्य, चित्राणि अद्भुतानि 'विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रमपि । इत्यमरः । तपांसि कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि निरीक्ष्यमाणः सम्यक् पश्यन्, धीरः धैर्यवान स राजपुत्रः स्वर्गाय अभिवृद्धः कामः इच्छा यस्य तेन स्वर्गं गन्तुकामेन पुण्यं करोतीति पुण्यकृत् तेन तपः कुर्वता जनेन तपस्विवर्गेण 'जातावेकवचनमित्येकवचनम् । कीर्णं व्याप्तं तमाश्रममनुचचार तैराश्रमवासिभिः सहचचार । 'अनु हीने सहार्थे च' इति विश्वः ।

तपोविकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।
तपस्विनं कंचिदनुव्रजन्तं तत्त्वं बिजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥ ११ ॥

तत्र तपोवने तस्मिन्नाश्रमे तपोधनानां तपस्विनां तपोविकारान् तपसः परिणामान 'परिणामो विकारो द्वे' इत्यमरः । निरीक्ष्य सम्यग् विलोक्य सौम्यः साधुः सिद्धार्थः तत्त्वं सत्यं परमात्मानं वा 'तत्त्वं परमात्मनि । वाद्यभेदे स्वरूपे च' इति हैमः । विजिज्ञासुः विशेषेण ज्ञातुमिच्छुः कंचित्कमपि अनुव्रजन्तम् अनुगच्छन्तं तपस्विनं बभाषे उक्तवान् पृष्टवानितिभावः ।

तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने ।
तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥१२॥

तद् आश्रमदर्शनं मे मम अद्य पूर्वं प्रथमवारं जातमितिशेषः । यस्मात् यतः कारणाद्, इमं धर्मविधिं धर्मानुष्ठानं न जाने नहि जानामि । तस्माद्. वः युष्माकं यः निश्चयः विश्वासः सिद्धान्तो वास्ति स निश्चयो यत्प्रति यदर्थं प्रवृत्तः प्रारब्धः (तत्सर्वं) भवान् मे मह्यं भाषितुं कथयितुमर्हति योग्योऽधिकारी वर्तते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायार्षभ विक्रमाय ।
क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥ १३ ॥

ततः प्रश्नश्रवणानन्तरं स अनुव्रजन् । द्वे जाती जन्मनी यस्य स द्विजन्मा । तथा च मनुः—'मातुरग्रेऽधि (वि) जननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् इति । तपोविहारः तप एव विहारः परिक्रमः क्रीडार्थसञ्चरणमिति भावः । यस्य, स तपस्वी । ऋषभस्य वृषभस्य 'ऋषभो वृषभो वृषभी वृषः, इत्यमरः । इव विक्रमः अतिपराक्रमः कान्तिर्वा यस्य 'विक्रमस्त्वतिशक्तिता' । 'क्रान्तौ विक्रमः, इत्यमरः । तस्मै । शक्येषु शाक्यवंशयेषु ऋषभाय श्रेष्ठाय 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूल नागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः. इत्यमरः । सिद्धार्थाय क्रमेण तपोविशेषान् तपसो–भेदान् तपसः फलं च कथयांचकार कथयामास ।

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररूढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव ।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥१४॥

ग्रामे भवं ग्राम्यम् 'ग्रामाद्यखञौ । इति यत्प्रत्ययः । न ग्राम्यम् अग्राम्यं वन्यं नीवारश्यामाकादि अन्नम्, सलिले जले प्ररूढ़मुत्पन्नं किञ्चिद्भोज्यम्, पर्णानि तरुलतादि पर्णानि तरुलतादिपत्राणि, 'पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान' इत्यमरः । तोयं पानीयम् 'अम्भोर्णास्तोय पानीय' इत्यमरः । फलमूलमेव फलानि मूलानि च एव एतेषु पर्यायेणैकमेवेति भावः मुनीनामियमषोक्ता यथागमं शास्त्रानुसारं यथास्यात्तथा

वृत्तिः जीवनोपायोऽस्तीति शेषः । तपसां कृच्छ्रचान्द्रायणादीनां ते ते विकल्पाः प्रकारा भिन्नास्तु भिन्ना एव सन्तीतिशेषः ।

उञ्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद्भुजङ्गैःसह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥१५॥

अन्ये तापसाः खगाः पक्षिण इव उञ्छेन खलादिपतितधान्यस्य कणश आदानेन जीवन्ति 'उञ्छःकणश आदानम्' इत्यमरः । केचित् मृगवत् मृगा इव तृणानि घासं चरन्ति भक्षयन्ति । केचिदपरे वल्मीकभूताः पिपीलिकादिनिष्कासित मृत्पुञ्जभूताः, भुजङ्गैः सह सर्पैः साधर्म् वनमारुतेन वन्यवायुना वर्तयन्ति जीवन्ति ।

अश्मप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणां तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥१६॥

अन्ये तापसा अश्मनः प्रयत्नेन उपायभूतेन उपार्जिता सम्पादिता वृत्तिः जीवनोपायः यस्तथाभूताः, केचित स्वदन्तः यतु मुशलादिसाधनैः अपहृतं तुषेभ्यः पृथक् कृतं कुट्टितं पिष्टं वा अन्नं भक्षयन्तीति तथाविधाः वर्तन्ते इति शेषः । अन्ये केचन परार्थम् अन्येभ्यः नत्वात्मने श्रपणां पाकं कृत्वा यदि तत्र तस्मिन् पाके शेषमस्ति किंचिदवशिष्यते तदा तेनावशिष्टेन कार्यं कुर्वन्ति स्वभोजनादि कार्यं सम्पादयन्तीति भावः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ।

केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम् ।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः ॥१७॥

जलेन क्लिन्ना आर्द्रा जटानां संश्लिष्टकेशानां कलापाः समूहा येषां तथाभूताः केचित्तापसा मन्त्रपूर्वं मन्त्रानुच्चार्येतिभावः, द्विः द्विवारं प्रातः सायं पावकं जुह्वति यज्ञं कुर्वन्ति इति कलितार्थः । केचिद् अपो जलानि विगाह्य अवगाह्य जले निलीनाः सन्त इति भावः, कूर्माणां कच्छपानां संघर्षेणोल्लिखितैः चिह्नितैः शरीरैरुपलक्षिताः मीनैः मत्स्यैः समं सह वसन्ति ।

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम् ।
दुःखेन मार्गेण सुखंह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥१८॥

कालचितैः दीर्घकालसंचितैः एवंविधैः ईदृशैः परैः उत्तमैर्विशेषैस्तपोभिः नियमैः करणैः दिवं स्वर्गं यान्ति इति शेषः, अपरैः साधारणैः तपोभिः नृलोकं नरलोकं मृत्युलोकं यान्ति सम्बध्यते । दुःखेन कष्टकरेण मार्गेण विधिना लोकः सुखं उपैति प्राप्नोति हि यतः सुखं धर्मस्य मूलमस्तीति वदन्ति बुद्धिमन्तः ।

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य।
अदृष्टतत्त्वोऽपि न सन्तुतोष शनैरिदं चात्मगतं बभाषे ॥१६॥

तस्य उक्तस्य तपोधनस्य इत्येवमादि इत्यादि वचः वचनं श्रुत्वा न दृष्टं साक्षात्कृतः तत्त्वं परमात्मा सत्यं वा येन तथाभूतोपि स द्विपदानां मनुष्याणाम् इन्द्रः राजा तस्य वत्सः नरेन्द्रपुत्रः न सन्तुतोष सन्तुष्टो नाभूत्। च तथा इदं वक्ष्यमाणम् आत्मगतम् मनसि। शनैः बभाषे उक्तवान् विचारयामासेतिभावः।

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलंच।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पेश्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥

तपश्च किंच कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपोऽनुष्ठानम् न एका विधा प्रकारो यस्य तथाविधमनेकविधं, दुःखात्मकं दुःखप्रदं—चास्तीति शेषः। तपसः फलं च स्वर्ग-प्रधानं मुख्यतया स्वर्ग-प्राप्तिरेवेति भावः। च तथा सर्वे लोकाः परिणामवन्तः विकारिणः 'परिणामो विकारो द्वे। इत्यमरः। परिवर्तनशीलाः सान्ति। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। इति गीता (८–१६)। (अतः) आश्रमाणामाश्रमवासिनाम् अयं तपोनुष्ठानरूपः श्रमः प्रयत्नः स्वल्पे खलु स्वर्गादिलोकप्राप्तिरूपात्यल्पफलाय एव। इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम्।

प्रियांश्च बन्धून् विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥

प्रियान् बन्धून् विषयान् रूपरसादींश्च हित्वा त्यक्त्वा ये जनाः स्वर्गहेतोः स्वर्गप्राप्त्यर्थं नियमं चरन्ति तपः कुर्वान्ति ते विप्रलब्धा वञ्चिता भूयः पुनः महत्तरम् अतिमहत् बन्धनं जन्मरूप खलु निश्चयेन गन्तुकामाः गन्तुमिच्छन्ति। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशान्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकाम. लभन्ते, इति गीता श्रुतिरपि—'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।

काय-क्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥ २२ ॥

तपः अभिधानं नाम येषां तैस्तपोनामकैः काय-क्लमैः शरीरपीडनैः, यः नरः कामानां भोगैश्वर्याद्यभिलाषाणां हेतोः कारणात् 'कामः स्मरेच्छयोः पुमान्' इति मेदिनी। प्रवृत्तिं प्रवाहं 'प्रवृत्तिर्वृत्तवृत्तान्त-प्रवाहेषु प्रवर्तने, इति हैमः। जन्मरूपम् आकाङ्क्षति इच्छति स नरः संसारदोषान् संसारसम्बन्धीनि रागद्वेषादिदूषणानि अपरीक्षमाणः न सम्यग् आलोचयन् दुःखेन कायक्लेशेन दुःखमेव जन्म-मरणरूपं दुःखमेव अन्विच्छति मार्गयति। यतः—'भोगैश्वर्य-प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्। व्यवसायात्मिका

बुद्धिः समाधौ न विधीयते । किञ्च, नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्' इति भगवद्गीता ।

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनः प्रसूतिम् ।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥२३॥

च अथ च प्रजानां लोकानां मरणात् मृत्योः नित्यं सर्वदा त्रासः भयं विद्यत इति शेषः । च किंच लोका यत्नेन तपोऽनुष्ठानरूपोपायेन पुनः प्रसूतिं प्रसवं जन्म वा 'प्रसूतिः प्रसवे' इत्यमर । इच्छन्ति । प्रवृत्तौ सत्यां प्रवाहे वर्तमाने मृत्युः नियतः अपरिहार्यः निश्चितः । 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति भगवद्गीता। यतः यस्माद् भीताः त्रस्तास्तत्रैव मग्ना लीना इति महदाश्चर्यम् द्योत्यतेऽत्र । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाप्नुवन्ति ।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥ २४ ॥

एके केचिद् इहार्थं एतस्मै लोकाय खेदं दुःखं कायक्लेशरूपं प्रविशन्ति गच्छन्ति। अन्येऽपरे स्वर्गार्थं स्वर्गप्राप्त्यर्थं श्रमं तपोऽनुष्ठान-प्रयत्नम् आप्नुवन्ति अधिगच्छन्ति। (एवं) आशा-कृपणः आशा दीना हीना वा यस्य स आशादीनः जीवलोकः न कृतः साधितम् अर्थः प्रयोजनं येन स असफलः सन् नास्ति अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मिन् अनर्थे पतति । सुखमन्विच्छन् अनन्तदुःखे पततीत्यनर्थः 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी', 'अन्तवत् तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् । इति च भगवद्गीता ।

न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

खलु निश्चयेन अयम् अत्र क्रियमाणः यत्नः तपोनुष्ठानरूपोपायः, यः हीनं निकृष्टम् उत्सृज्य त्यक्त्वा विशेषमसाधारणं स्वर्गादिफलं गन्तुं शीलमस्यास्तीति तथाभूतः गर्हित एव न निन्दितो नैव । तु किन्तु प्राज्ञैः बुद्धिमद्भिः समानेन परापरयोर्भेदं त्यक्त्वा सदृशेन परिश्रमेण प्रयत्नेन तत्कार्यं कर्तुमुचितं यत्र यस्मिन् कृते पुनः न कार्यं कर्तुमवशिष्येत किमपीतिशेषः ।

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि पक्षान्तरे 'पक्षान्तरे चेद्यदि च' इत्यमरः । इह अत्रलोके शरीरपीडा चान्द्रायणादिभिः शरीरपीडनं धर्मः । शरीरस्य सुखम् अधर्मः पापं भवति, च तथा

धर्मेण परत्र परलोके सुखं (नरः) आप्नोति, लभते, तस्मात् तदा इह अस्मिन् निश्चये सति धर्मः शरीरपीडारूपः अधर्म परलोके सुख-रूपं फलति जनयति। धर्मोऽधर्मे फलभावेन परिवर्तते इतिभावः ॥ अतोऽयं विचारो न समीचीनः ॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च।
युक्तो दमश्चेतस एव तस्माच्चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम् ॥ २७ ॥

यतः शरीरं मनसो वशेन मनसः प्रेरणया प्रवर्तते विषयेषु प्रवृत्तिं करोति च तथा निवर्ततेऽपि निवृत्तिमपि गच्छति, तस्माद्धेतोः चेतसः मनसः दमः दमनं वशीकरणमेव युक्तं उचितम् न तु शरीरस्येतिभावः। (यतः) चित्तादृते चित्तं विना शरीरं काष्ठसमं शुष्कं निश्चेष्टं चेत्यर्थः ॥ तदुक्तम्–'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येववशंनयेत्। इति गी. (६–२१) 'एवञ्च मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ इति ॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति।
ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥२८॥

यदि चेद् आहारस्य भोजनस्य शुद्ध्या पवित्रतया शुद्धभोजनकरणेनेतिभावः पुण्यं धर्मप्राप्तिः इष्टम् मता तस्मात् तदा मृगाणामपि हरिणादिपशूनामपि पुण्यमस्ति तेऽपि पुण्यवन्तः पवित्रभोजनकरणात् । अपिच ये साधकाः फलेभ्यो बाह्याः फलाहारमपि त्यक्तवन्तः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् ते भाग्यापराधेन भाग्यदोषेण दौर्भाग्येन वा पराक् प्रत्यावृत्तं सुखम् अर्थेभ्यो येषां ते उद्देश्यविमुखाः सन्तीति शेषः । इन्द्र वज्राख्यं वृत्तम्।

दुःखेऽभिसन्धिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसन्धिः।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसन्धिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसन्धिः ॥२९॥

अथानन्तरं दुःखे शरीरपीड़ने अभिसन्धिस्तु पक्षपात एव पुण्यहेतुः अथवा 'दुःखं पुण्यप्रद' इत्यादिपक्षकथनमेव धर्मकारणम्, ननु निश्चयेन स उक्तः अभिसन्धिः पक्षपातः पक्षकथनंवा सुखेऽपि कार्यः कर्तुमुचितः। अथ चेत् सुखेऽभिसन्धिः प्रमाणं प्रमाणपुष्टं युक्तियुक्तं वा यथास्यात्तथा न तदा दुःखेऽभिसन्धिः प्रमाणं न ननु नैव।

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

तथैव एवमेव जनाः तीर्थं पवित्रस्थानं विद्यते इत्यनया भावनया प्रवृत्ताः प्रेरिताः कर्मणां विशुद्धिहेतोः विशेषेण पवित्रतासम्पादनाय अपस्तीर्थजलानि स्पृशन्ति पिबन्ति अवगाहन्ते वा तत्रापि एवमाचरणेऽपि हृदि हृदये केवलः अयं तोषः एकैषा

तुष्टियंत् कर्मविशुद्धिर्जाता । वस्तुतस्तावदेवं कापि शुद्धिर्न भवति यावन्मनः शुद्धं नास्ति मनसि शुद्धे तु तीर्थेन किम् । तथाच 'शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् । इति । हि यस्मात् पापं पापिनं पुरुषं दुष्कर्म वा आपो जलानि न पावयिष्यन्ति पवित्रतां न नेष्यन्ति ।

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।
तस्माद्गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

यदि चेत् पृथिव्यां यद्यद्हि यद्यदेव अम्भः जलं गुणवद्भिः गुणिभिर्महात्मभिः स्पृष्टं स्पर्शेन पवित्रितं तत्तत् तीर्थमिष्टम् तीर्थं मतम् तस्मात् गुणानेव तीर्थं परैमि गुणा एव उत्तमं तीर्थमिति मन्ये आपस्तु जलानि तु निःसंशयं निःसन्देहम् सामान्यजलानि न तु किञ्चिद्विशिष्टं तत्र विद्यते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च ययौ विवस्वान् ।
ततो हविर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इति अनेनप्रकारेण तत्तद् दुःखात्मकमित्याद्येकादशश्लोकेषूक्तं बहुयुक्तियुक्तमनेकतर्कसम्मतं स जगाद स्म उवाच । विवस्वान् सूर्यश्चास्तं ययौ गतः । ततस्तदनन्तरं स सिद्धार्थः । हविषां हवनीयपदार्थानां घृतादीनां धूमेन विरुद्धो वर्णो रागो येषां ते हविर्धूम धूसरितवर्णाः वृक्षाः यत्र, तपसा प्रशान्तमतिशान्तम् वनं तपोवनं विवेश प्राविशत् । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

अभ्युद्धृतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

अभितः सर्वतः उद्धृतमुत्क्षिप्तं प्रज्वलितं प्रदीप्तं च अग्निहोत्रं मन्त्रपूर्वकं स्थापिताग्नौ हुतं यत्र, अथवा उद्धृतः प्रदीप्तश्च अग्निहोत्रसम्बन्धी अग्निः यत्र । कृतःअभिषेकः शास्त्रविधिना मन्त्रपूर्वकस्नानं यैस्तैः ऋषिजनैर्मुनिभिरवकीर्णम् व्याप्तम्, जाप्यानां जपयोग्य-मन्त्राणां स्वनेन मधुरध्वनिना आसमन्तात् कूजिताः प्रतिध्वनिपूर्णाः देवानां कोष्ठाः गृहमध्यभागाः 'कोष्ठः कुसूले चात्मीये मध्ये कुक्षेर्गृहस्य च' इति मेदिनी । यत्र धर्मस्य सुकृतस्य कर्मान्तमिव कार्यपूर्तिक्षेत्रमिव प्रवृत्तं वनं स विवेशेति पूर्वेण श्लोकेन सम्बन्धः ।

काश्चिन्निशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षिप्य तपश्च मत्वा तस्मात्तपः क्षेत्रतलाज्जगाम ॥३४॥

निशाकरस्य चन्द्रस्य आभा कान्तिरिव आभा यस्य स रूपलावण्यसम्पन्नः सर्वार्थसिद्धः तपांसि नियमान् परीक्षमाणः समीक्षमाणः काश्चित् निशा रात्रीः तत्र

तपोवने उवास तस्थौ । सर्वं तपः परिक्षेप्य सर्वविधंतपः वन्धनयुक्तमसारंच मत्वा ज्ञात्वा तस्मात्तपः क्षेत्रतलात् तपोवनाद् जगाम निर्ययौ । 'परिक्षेप्य' पदस्य प्रकरणानुसारी अर्थः प्रदर्शितः परिक्षेप्येत्ययं पाठो भ्रष्टः प्रतीयते, यतोह्यन्वयसङ्गतिर्न भवति । विशेषन्तु मनीषिभिः स्वयं विचारणीयम् ।

अन्वव्रजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥३५॥

अनार्यैः दुष्टैः अभिभूयमानात् पराभवं नीयमानाद् देशाद् अपयान्तं गच्छन् धर्मं महर्षय इव ततः तपोवनान्निर्गमनानन्तरं तत् तस्य रूपस्य प्रशस्ताकृतेः माहात्म्यगतैः प्रशसांगतैः प्रशंसद्भिः मनोभिरुपलक्षिताः आश्रमिणस्तं सिद्धार्थम् अन्वव्रजन् अनुगतवन्तः ।

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुध्यमानस्तस्थौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ॥३६॥

ततः स सिद्धार्थः जटाः, वल्कलानि, चीराणि च खेला क्रीडा मनोविनोदः वा येषां तान् तपोधनान् एषां तपांसि चैव ददर्श दृष्टवान् । अनुरुध्यमान आश्रमिभिः साग्रहं प्रार्थ्यमानः शिवे शुभे मङ्गलरूपे वा 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्। इत्यमरः । श्रीमति शोभायुक्ते वृक्षमूले तस्थौ स्थितिं चकार ।

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्य तस्थुः ।
वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

अथ वृक्षमूलस्थित्यनन्तरम् आश्रमवासिनः तं मनुष्यवर्यं मनुष्यश्रेष्ठम् उपसृत्य समीपं गत्वा परिवार्य परितः सर्वतः वृत्त्वा तस्थुः स्थिताः । च तथा तेषां कोऽपि वृद्धस्तपस्वी बहुमानपूर्वम् अतिसम्मानेन साम्ना शान्त्या कलेन मधुरस्वरेण इति वक्ष्यमाणां गिरमुवाच वाचमुक्तवान् ।

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते ।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

त्वयि सिद्धार्थे आगतेऽत्रप्राप्ते आश्रमः पूर्ण इवाभूत प्रयाते गते सति त्वयि शून्यः रिक्त इव सम्पद्यते जायते । तस्मात् हे तात, प्रिय, जिजीविषोः जीवितुमिच्छोः इष्टं देहं प्रियं शरीरं आयुः जीवनकाल इव इममाश्रमं हातुं त्यक्तुं नार्हसि उचितं नास्ति।

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः ।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्संनिकर्षाद्बहुलीभवन्ति ॥३९॥

ब्रह्मर्षिभिः वशिष्ठसदृशैः, राजर्षिभिः विश्वामित्रकल्पैः, सुरर्षिभिः नारदानुरूपैः, जुष्टः सेवितः पुण्यः पूतः हिमवान् हिमालयः शैलः पर्वतः समीपे हि समीपमेव

विद्यते इतिशेषः। यत्संनिकर्षाद् यस्य सामीप्यात् तपोधनानां तान्येव उक्तान्येव तपांसि बहुली भवन्ति बहुलतां प्राप्नुवन्ति।

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च॥४०॥

तथैव एवमेव धर्मात्मभिः आत्मवद्भिः आत्मज्ञानिभिः देवर्षिभिः महर्षिभिः च जुष्टानि सेवितानि, नभस्तलस्य व्योम्नः स्वर्गस्येति यावत् सोपानभूतानि आरोहणमार्गरूपाणि पुण्यानि पवित्राणि तीर्थानि 'हिमालयं' अभितः सर्वतः सन्तीति शेषः। इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम।

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम्॥४१॥

इतश्च अस्मात्स्थानाच्च भूयः पुनः धर्मविशेषहेतोः निवृत्तिफलक-विशेषधर्मानुष्ठानाय उत्तरैव दिक् सेवितुं क्षमम् उत्तर दिशायामेव गमनं युक्तम् 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। शुक्ला गतिरेव ग्राह्येति बुधेन बुद्धिमता दक्षिणतः एकपदमपि प्रयातुं क्षमं न तु भवेत्। दक्षिण मार्गेण एकं पदमपि, बुद्धिमता गन्तुं युक्तं नैव भवेत कृष्णागतिः त्याज्येतिभावः। तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकयायात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः। एतयोर्द्वयोर्गत्योरेवात्रोल्लेख इति प्रतीयते।

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद्ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः॥४२॥

अथ प्रश्ने 'मङ्गलानन्तरारम्भ प्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः, किमस्मिंस्तपोवने त्वया कश्चित् कोऽपि निष्क्रियः अकर्मण्यः, संकीर्णे क्षुद्रे धर्मे आपतितः सर्वथामग्नः, अथवा अशुचिः अपवित्रः दृष्टः? येन कारणेन ते तव अत्र विवत्सा वस्तुमिच्छा न अस्तीति शेषः। तत् तस्माद् ब्रूहि कथय यावत् कालं वासः अत्र स्थितिः रुचितः रुचिकरा अस्तु भवतु तवेति शेषः।

इमे हि वाञ्छन्ति तपः सहायं तपो निधानप्रतिमं भवन्तम्।
वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरप्युदयावहः स्यात्॥४३॥

हि निश्चयेन इमे त्वां परिवार्यस्थिताः तापसास्तपस्विनः तपोनिधानप्रतिमं तपोनिधिरूपं त्वां तपः सहायं तपसि आत्मसहचरं वाञ्छन्ति इच्छन्ति। त्वमपि एभिः सह तपः कुर्या इत्येषामिच्छा, हि यतः इन्द्रसमेन इन्द्रसदृशेन त्वया सार्धं सह वासः बृहस्पतेः देवगुरोः अपि अभ्युदयम् आवहति आनयति तथाभूतः भाग्योदयकारकः

अत्र मुक्तिरूपाभ्युदयप्रापकःस्याद्भवेत्। येन सह वासो देवगुरोरप्यभ्युदयावहः स्यादन्येषान्तु कथं नेतिभावः।

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः।
भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाचचक्षे ॥ ४४ ॥

तपस्विमध्ये तापसानां समक्षं तपस्विमुख्येन तपस्विनां मुख्येन प्रधानेन इत्येवम् उक्त प्रकारेण उक्ते कथिते (सति) भवस्य जन्मनः 'भवः क्षेमेशसंसारे सत्तायां प्राप्तिजन्मनोः, इति मेदिनी। प्रणाशाय प्रकर्षेण नाशाय कृता प्रतिज्ञा येन स कृतसङ्कल्पः मनीषिषु धीरेषु प्रज्ञेषु वा 'धीरो मनीषीज्ञः प्रज्ञः, इत्यमरः। मुख्यः श्रेष्ठः स सर्वार्थसिद्धः स्वमात्मनः अन्तर्गतं हृत्स्थं भावमाशयं आचचक्षे कथयामास।

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम।
एवंविधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥ ४५ ॥

ऋजुः सरलः आत्मा येषां तथाभूतानां धर्मभृतां धर्मपालकानाम् इष्टातिथित्वात् प्रियातिथिभावात स्वजनोपमानाम् आत्मीयकल्पानां मुनीनाम् मां प्रति मद्विषयेएवंविधैः उक्तैः भावजातैः भावसमूहैः 'जातं जात्योघजन्मसु' इत्यमरः। मे मम परा महती प्रीतिः अनुरक्तिः जनिता च तथा परः मानः जनितः उत्पादितः। इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम।

स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः।
रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्पन्दिता सम्प्रति भूय एव ॥४६॥

समासतः संक्षेपतः स्निग्धाभिः स्नेहपूर्णैः अतएव हृदयंगमाभिः हृदयस्पर्शिभिः आभिः युष्मदुचरितैः वाग्भिः वचोभि' स्नात इव पवित्रीकृत इवास्मीति भावः। च तथा मे मम धर्मे नवः नूतनः यः ग्रहः अनुरोधः तस्य रतिः अभिरुचिः सम्प्रति अधुना भूय एव पुनरपि विस्पन्दिता सञ्चालिता उद्बोधितेति भावः। तपस्विनां स्नेहसिक्तव्यवहारेण वचनैश्चाधुना सिद्धार्थस्य मुक्तयेऽभिलाषोऽस्त्यर्थमुद्बुद्धः इत्याशयः।

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव सन्दर्शितपक्षपातान्।
यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥ ४७ ॥

एवम् इत्थं प्रकृष्टं वृत्तं चरित्रं येषां तान् प्रवृतान् 'वृत्तं पद्ये चरित्रे' इत्यमरः। अतीव अत्यर्थं सम् सम्यग् दर्शितः प्रकटितः पक्षपातः प्रेमातिशयः यैस्तान्, शरणाय साधून् शरण्यान् शरणयोग्यान् भवतः हित्वा त्यक्त्वा यास्यामि गमिष्यामीति अनेन विचारेण ममापि तथैव तादृशमेव दुःखं भवतीति शेषः यथैव बन्धून् बान्धवान् त्यजतः।

एवं सति किमर्थं भवानत्र न तिष्ठतीति तदाहाग्रिमश्लोकद्वयेन।

स्वर्गाय युष्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय।
अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४८॥

युष्माकम् अयं तपोनुष्ठानरूपो धर्मः तु स्वर्गाय स्वर्गप्राप्त्यर्थं, ममाभिलाषस्तु ममेच्छा तु अपुनर्भवाय भवप्रणाशाय मुक्तये वा इत्ययं महान् भेदः ये मे मम अस्मिन्वने विवत्सा वस्तुमिच्छा न नास्तीति शेषः। हि यतः निवृत्तिधर्मः मोक्षधर्मः प्रवृत्त्या सकामधर्माद् भिन्नः अस्तीति शेषः।

तन्नारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि।
धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥ ४९ ॥

येन इतो वनाद् अस्माद् वनात परिव्रजामि गच्छामि तत् मे मम अरतिः अरुचिः न परैः अपचारः अहिताचरणं परेषाम् अपचारः दुराचरणं वा नः अस्तीति शेषः। हि यतः पूर्वयुगानुरूपे पूर्वयुगसदृशे धर्मेस्थिताः पूर्वयुगवद् धर्माचरणं कुर्वन्तः भवन्तः सर्वे महर्षीणां कल्पाः सदृशाः सन्ति।

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुश्लक्ष्णमोजस्वि च गर्वितं च।
श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः ॥ ५० ॥

ततः स्वान्तर्गतभावकथनानन्तरं कुमारस्य सिद्धार्थस्य सूनृतं प्रियं सत्यं च, अर्थवच्च सारवच्च, सुश्लक्ष्णं सुमधुरं संक्षिप्तं वा ओजस्वि च प्रभावशालि च, गर्वेण अन्वितं मानयुक्तं वचः वचनं श्रुत्वा ते परिवार्य स्थिताः तपस्विनस्तापसाः विशेषयुक्तम् असाधारणं बहुमानम् अत्यधिकमानम् ईयुः गताः। कुमारस्योदारमाशयं ज्ञात्वा तेषां हृदयानि तं प्रति सविशेषं समादरपूर्णानि जातानि।

कश्चिद्द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः।
आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥

तत्र तेषु भस्मनि शेते इति भस्मशायी, प्रांशुः अतितेजस्वी, शिखा अस्यास्तीति शिखी जटीतियावत्, दारवचीरवासाः तरुत्वग्धारी, आ ईषत्पिङ्गले कपिलवर्णे अक्षिणी यस्य स, 'कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः तन्वी कृशा दीर्घा च घोणा नासिका यस्य सः, 'घोणा नासा च नासिका,' इत्यमरः। कुण्डं पात्रविशेषः कमण्डलुर्वा एकं केवलः हस्ते यस्य स तथाविधः कश्चिद् द्विजः इति वक्ष्यमाणां गिरं वाचमुवाच। वृत्तमिन्द्रवज्रा।

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्यसम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

हे धीमन् बुद्धिमन्, ते तव निश्चयः भवप्रणाशनरूप उदारः, खलु महान् एव। यस्त्वं युवा युवकः सन् जन्मनि प्रवृत्तौ दृष्टः लक्षितः दोषः येन तथाभूतः असि।

स्वर्गं प्रवृत्तिम् अपवर्गं मोक्षं निवृत्तिंच सम्यक् पूर्णतया विचार्य आलोच्य हि एव यस्य अपवर्गे मोक्षे मतिः प्रवृत्तिः रुचिर्वा अस्ति स सात्विको बुद्धिसम्पन्नः भवान् अस्ति। सात्विकी बुद्धिस्तु 'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये, बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी। इति गीता। इन्द्रवज्राख्यंवृत्तम्।

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

तैस्तैः विविधैः यज्ञैः तपोभिः व्रतैश्च करणैः रागवन्तः राजसाः साधकाः हि निश्चयेन स्वर्गं यियासन्ति गन्तुमिच्छन्ति राजस-साधकास्तु गीतायाम्—'रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः। इति

तु किन्तु सत्त्वं विद्यते एषामिति सत्त्ववन्तः। सत्त्वं सांख्य शास्त्रे प्रकाशसाधनम् 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्' इति गीता सात्त्विकाः साधकाः रागेण सार्धं रिपुणा शत्रुणा सह इव युद्ध्वा मोक्षं मुक्तिं परितः सर्वतोभावेन ईप्सन्ति इच्छन्ति। सात्त्विकसाधकस्तु गीतायाम्—'मुक्तसङ्गोऽनहं-वादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते' इति। इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम्।

तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम्।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥

तद्यदि ते तव एषा सात्त्विकी बुद्धिः निश्चिता स्थिरा (तदा) भवान् तूर्णं शीघ्रं विन्ध्यकोष्ठं विन्ध्यप्रदेशं गच्छतु। तत्र विन्ध्याचले असौ मुनिः स मुनिः अराडः इत्याख्यः वसति यः निष्ठा संहारः संसारसमाप्तिर्वा प्रयोजनमस्येति नैष्ठिकं तस्मिन्नैष्ठिके 'निष्ठा स्त्री संहारश्च समापने' इति शब्दार्णवः। श्रेयसि मोक्षे लब्धं चक्षुः दृष्टिः येन तथा भूतः अस्ति।

तस्माद्भवाञ्छ्रोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ संप्रतिपत्स्यते च।
यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥५५॥

तस्माद् अराडाद् भवान् तस्य भावस्तत्त्वं तस्य मार्गं परमात्ममार्गं सत्यमार्गं वा 'तत्त्वं परात्मनि' इति हैमः। श्रोष्यति। रुचौ इच्छायां सत्यां सम्प्रतिपत्स्यते च स्वीकरिष्यति च भवानितिसम्बध्यते। तु किन्तु यथा अहं पश्यामि स्पष्टोच्चघोणमित्यादिभिर्वर्ण्यमाणमुखमण्डललक्षणैर्विचारयामि तथा एषा तव मतिः तस्यापि अराडस्यापि बुद्धिं मतिं अवधूय तिरस्कृत्य यास्यति। तव ज्ञानपिपासां शमयितुमराडस्य बुद्धिरपि समर्था न भविष्यतीतिभावः।

स्पष्टोच्चघोणां विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्ठं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम् ।
इदं हि वक्त्रं तनुरक्तजिह्वं ज्ञेयार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥ ५३ ॥

स्पष्टा उच्चा च घोणा नासिका यत्र, विपुले महती आयते दीर्घे च अक्षिणी यत्र, ताम्रः ताम्रवर्णः अधरौष्ठः यत्र, सिताः श्वेताः तीक्ष्णा दंष्ट्रा यत्र, तन्वी कृशा रक्ता च जिह्वा यत्र तद् इदं पुरोवर्ति ते तव वक्त्रं मुखं कृत्स्नमेव सम्पूर्णमेव ज्ञेयार्णवं ज्ञानसागरं पास्यति । त्वं जरामरणमोक्षाय यतमानः सर्वं ब्रह्मज्ञानमधिगमिष्यसीति भावः। तथा च भगवद्गीता—'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये, ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इति ।

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीप्तता यानि च लक्षणानि ।
आचार्यकं प्राप्स्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवाप्तम् ॥५७॥

भवतः या अगाधा अतलस्पर्शिनी गभीरता गम्भीरता स्थिरता वा या च दीप्तता तेजः यानि चोक्तानि स्पष्टोच्चघोणमित्यादि प्रतिभावत्त्वसूचकानि लक्षणानि तैः करणैस्त्वं पृथिव्यां भूमण्डले तत् तथाविधम् आचार्यस्य कर्म भावो वा आचार्यकम् आचार्य-पदं प्राप्स्यसि यद् यथाविधम् ऋषिभिः पूर्वयुगेऽपि न अवाप्तम् प्राप्तम् । भवानपूर्वा-माचार्यपदवीमधिगमिष्यतीति सारः । वृत्तमिन्द्रवज्राख्यम् ।

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।
विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५८॥

परमम् इति स्वीकारे 'ओमेवं परमं मते' इत्यमरः । परमम् ओम् इत्यनेन प्रकारेण तस्य तपोधनस्य सम्मतिं स्वीकृत्य नृपात्मजः राजपुत्रः सिद्धार्थः त परिवार्यस्थितम ऋषिजनं 'जातावेकवचनम्' इति । प्रतिनन्द्य अभिनन्द्य प्रसाद्य वा ततस्तस्माद् वृक्षमूलात् निर्ययौ निर्जगाम। ते तपस्विनोऽपि विधिवद् विधिपूर्वकं यथाशास्त्रं वा अनु सदृशं. विधाय कृत्वा अवसरोचितविसर्जनक्रियां सम्पाद्य उचितरीत्या तं विसृज्येति भावः तपोवनं प्रविविशुः प्रविष्टवन्तः । अपरवक्त्राख्यं वृत्तम् ।

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये अन्वयार्थदीपिकायां तपोवन-प्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः



Masefield

अथ रघुवंशम् संजीविन्या समेतम्

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥१॥

अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहित-गन्धमाल्या तां तथोक्ताम्। पीतं पानमस्यास्तीति पीतः। पीतवानित्यर्थः। 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः। 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात्। पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम्। क्रियार्थोपपद इत्यादिना चतुर्थी। मुमोच मुक्तवान्। जायापदसामर्थ्यात् सुदक्षिणायाः पुत्रजनन योग्यत्वमनुसन्धेयम्। तथाहि श्रुतिः—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमेमासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।' इति यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानहें गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते। अस्मिन सर्गे वृत्तमुपजातिः—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः। इति

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत ॥ २ ॥

पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः। स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्तनीया परिगणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी। खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम्। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः तस्या धेनोर्मार्गम्। स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव। अन्वगच्छदनुसृतवती च। यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सापि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः। धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठी समासः प्रकृतिविकाराभावात। पांसुलपथप्रवृत्तावप्यपांसुलानामिति विरोधालंकारो ध्वन्यते।

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

दयालुः कारुणिकः । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः इत्यमरः । 'स्पृहिगृहि'—इत्यादिना लुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः ।'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनु-सुतां नन्दिनीं । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसांधराः पयोधराः स्तनाः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः । अपयोधराः पयोधराः संपद्यमानाः पयोधरी भूताः । अभूततद्भावे च्विः । 'कुगति प्रादयः । इति समासः । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्राः यस्यास्ताम् । 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेक पदार्थग्रहणं सामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः । गोरूपधरामुर्वीमिव । जुगोप ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनैव ररक्षेति भावः । धेनुपक्षे पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ।

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

व्रताय धेनोरनुचरेण । नतु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः । शेषत्वं सुदक्षिणापेक्षया । कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरान्न । कुतः । हि यस्मात्कारणान्मनोः । प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता । नहि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत ॥ ५ ॥

सम्राण्मण्डलेश्वरः 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । स राजा आस्वादवद्भी रसवद्भिः । स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्ग्रासैः 'ग्रासस्तु कवलार्थकः, इत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनैः दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च तस्याः धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषासक्तोऽभूत । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ । इत्यमरः ।

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् । स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । प्रयातां प्रस्थिता मुच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । उगितश्च इति ङीप् । आसनबन्ध उपवेशने धीरः ।

स्थितः। उपविष्टः सन्नित्यर्थः। जलमाददानां पिबन्तीं जलाभिलाषी। पिबन्नित्यर्थः। इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान्।

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजो विशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः॥ ७॥

न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां तथाभूतामपि तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्। सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा। अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः। अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः। तथाभूतो द्विपेन्द्र इव। आसीत्।

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८॥

लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः। 'इत्थं भूतलक्षणे' इति तृतीया। स राजा। अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः। मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजात् वन्यान्वने भवान्दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून्। द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु। इत्यमरः। विनेष्यन्शिक्षयिष्यन्निव। दावं वनं 'वने च वनवन्हौ च दवो दाव इहेष्यते' इति यादवः। विचचार वने चचारेत्यर्थः। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् इति दावस्य कर्मत्वम्।

'विसृष्ट'–इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥९॥

विसृष्टा पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य। पाशभृतावरुणेन समस्य तुल्यस्य। 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः। अनुभावोनेन सूचितः तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः। उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानां। 'खगवाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। विरावैः शब्दैः आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं। जयशब्दमित्यर्थः 'आलोको जयशब्दः स्यात' इति विश्वः। उदीरयामासुरिवावदन्निव। इत्युत्प्रेक्षा।

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥

मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिताः बाललता आरात्समीपेऽभिवर्तमानम् 'आराद्दूरसमीपयोः, इत्यमरः। मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः स इवाभातीति मरुत्सखाभम्।

'आतश्चोपसर्गे । इति कप्रत्ययः अर्च्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् । तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरतीतिभावः ।

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तः करणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसंभावना दर्शिता । तथापि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तः करणैः कर्तृभिः । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयार्द्रभावं तदाख्यातम् । दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्योऽक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः । 'विमलं कलुषी-भवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च । इति न्यायेन स्वान्तःकरण-वृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः ।

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः । कीचकैर्वेणुविशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतागृहेषु । 'निकुञ्ज कुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः वन-देवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ।

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरोझरः । इत्यमरः तुषारैः सीकरैः । 'तुषारो हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । पृक्तः संपृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पिता नीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीति आकम्पितपुष्पगन्धी । ईषत्कम्पित पुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत-एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ।

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

गोप्तरि तस्मिन्नाज्ञि वनं गाहमाने प्रविशति वृष्ट्या विनापि । दवाग्निः । 'दवदावौ वनानले' इति हेमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः । विशेष्यत इति

विशेषा । अतिशयितासीत् । कमार्थे घञ् प्रत्ययः । सत्वेषु जन्तुषु मध्ये । यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूनं दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ।

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः । 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्यक्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः । स एव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः । 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः मुनेर्धेनुश्च दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधि परिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । संचारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय, धेनुपक्षे आलयाय चागन्तुं प्रचक्रमे ।

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेवसाक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

मध्यमलोकपालो भूपालः देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सद्भिर्मान्येन । 'मतिबुद्धि'—इत्यादिना वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः । सतां मते न विधिनानुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धास्तिक्यबुद्धिरिव । बभौ च ।

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासित शाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

स राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणा मयूराः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः । 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः' । आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना अश्यामानि श्यामानि भवन्ति इति श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः । वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच् । मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वलाः येषु तानि । शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामेदशाः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः । 'नडशादाड्ड्वलच् इति ड्वलच्प्रत्ययः । वनानि पश्यन्ययौ ।

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः । 'सकृत्प्रसूता गौर्गृष्टिः' इति हलायुधः । नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । आपीनस्य भारोद्वहने

प्रयत्नात्प्रयासात् । वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च । अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तः पन्थाः आवृत्तिपथस्तं तपोवनावृत्तिपथम् । 'ऋक्पूः—' इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अलंचक्रतुर्भूषितवन्तौ ।

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१९॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा । निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्यां । उपोषिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिः । तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्तरि क्तः । पपौ । यथापोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वरः' इत्यञ्प्रत्ययः । पुरस्कृताग्रतः कृता । धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी । धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्यो-र्मध्यगता संध्येव विरराज ।

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

अक्षतानां पात्रेण सह वर्तेते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च तस्या धेन्वा विशालं शृङ्गान्तरं शृङ्गमध्यं । अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेः द्वारं प्रवेशमार्गमिव । आनर्चार्चयामास । अर्च-तभौवादिकाल्लिट् ।

वत्सोत्सुकापि स्तिमितासपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

सा धेनुर्वत्सोत्सुकापि वत्स उत्कण्ठितापि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुत्वमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिः । तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानाम् । तस्या धेन्वा विधेव विधाप्रकारो येषां तेषाम् । महतामित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारा-दीनि पुरः फलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि हि । अविलम्बितफल-सूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ।

गुरोःसदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सांध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सह वर्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाथ पुं भूम्नि दारा' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सांध्यं संध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ।

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते क्रमसब्देन धेनुव्यापाराणामेव इत्यपौनरुक्त्यम् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते'—इति द्वितीया ।

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं संतानाय महिष्या सममभिषिक्तपत्न्या सह । 'कृताभिषेका महिषी, इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्तिर्यस्य तस्य । दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य । त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ।

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने—द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परुत्परारि'—इत्यादिनानिपातनादव्ययम् । 'अद्यात्राह्न्यथपूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशयः' । इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मने पदे शानच् । प्रपतत्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातान्तस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि 'शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत् । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ।

सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहःकिल तां चकर्ष ॥२७॥

सा धेनुर्हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसापि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षितमभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम् । इत्यमरः । चकर्ष किलेत्यलीके ।

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्तघोषणम् । आर्तेष्वापन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु प्रग्रहेषु । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः आदायेव गृहीत्वेव निवर्तयामास ।

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

धनुर्धरः स नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवासं स्थितम् । 'क्वसुश्च इति क्वसु प्रत्ययः । केसरिणं सिंहम् । सानुमतोऽद्रेः । धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ । 'उपत्यकाद्रेरासन्नाभूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः । प्रफुल्लं विकसितम् । 'फुल्ल विकसने इति धातोः पचाद्यच । 'प्रफुल्लम्' इति तकार-पाठे 'ञिफला विशरणे' इति धातोः कर्तरि क्तः । 'उत्परस्यातः' इत्युकारादेशः । लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिंहगामी । शरणं रक्षणम् । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे साधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृताअरयो येन स नृपती राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । वध्यस्य वधार्हस्य । 'दण्डादिभ्योयः' इति य प्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषंगात् तूणीरात् । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । शरमुद्धर्तुमैच्छत् ।

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्तांगुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

प्रहर्तुस्तस्य वामेतरः दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद्गुप्ताकारे युधिष्ठिरे'

इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कटः इति यादवः । सायकस्य पुंख एव कर्तर्याख्ये मूलप्रदेशे 'कर्तरीपुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रालिखितशरोद्धरणोद्योग इव । अवतस्थे ।

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव । 'भोगी राजभुजंगयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् । इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः ।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥

निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् । 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनोवृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्तरि क्तः । तं दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयं आश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृ प्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदं विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ।

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

हे महीपाल, तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छ्रमो न कर्तव्य इत्यर्थः अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते--'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं करणभावस्य अपि तर्हि गम्यमानापि' इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथाहि । पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं मारुतस्य रंहो वेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ।

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५

कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम्। 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः। स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः। अष्टौ मूर्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं यथोक्तं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किंकरं मामवेहि विद्धि। 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च। सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्तयः। इति यादवः।

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥ ३६॥

पुरतोऽग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि। इति काकुः। असौ देवदारुः वृषभो ध्वजे यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः। अभूततद्भावे च्विः। यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः—कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निसृतानां पयसामम्बूनाम्। रसज्ञः स्वादज्ञः। स्कन्दपक्षे हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः। पयसां क्षीराणाम्। 'पयसां क्षीराणाम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः॥ ३७॥

कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता। 'कण्ड्वादिभ्योयक्' इति यक्। ततः शानच्। वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता। अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतम्। सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः। 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः। 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। तमिव एनं देवदारुं शुशोच।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः॥ ३८॥

तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन। अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत्। 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः। सिंहत्वं विधाय। अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः।

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव॥३९॥

परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनम्। सुरद्विषो राहोः चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव। क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कगतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं पर्याप्ता। 'नमः स्वस्ति- इत्यादिना चतुर्थी।

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ।

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार । तत्याजेत्यर्थः । अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ।

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः । अतएव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन् । अम्बकं लोचनं 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः । तस्य वीक्षणेन जडीकृतो निष्पन्दीकृतः वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च । 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः' इति महाभारते ।

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

हे मृगेन्द्र, संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयम् । यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' (२ । ४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्येश्वरकिंकरत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह अन्तरिति । हि यतो भवान् प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' । इति णलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासंभावितार्थमेतदित्युपहसन्ति । अतस्तु मौनमेव

भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिव जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ।

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जंगमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति' (२ । ३८) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यताम् । नेत्याहगुरोरपीति । पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणंहविः साधनत्वं सूचयति ।

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद । दिनावसान उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ।

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥

अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम् । 'देवखातबिले गुहा । गह्वरम्' इत्यमरः । अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि खण्डानि कुर्वन् । निरस्यन्नित्यर्थः । किंचिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे । हास कारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्' (२।४७) इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नवं वयो यौवनम् । इदं कान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येवं बहु । अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन । अल्पफलायेत्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ।

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४८॥

तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्ततेचेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति

स्वस्तिमती भवेत्। जीवेदित्यर्थः। स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः। हे प्रजानाथ, जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यो विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा। 'पुनः सहार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः। पासि रक्षसि। स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः।

न धर्मलोपादियं प्रवृत्तिः, किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

अथेति पक्षान्तरे। अथवा। एकैव धेनुर्यस्य तस्मात्। अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम्। अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात्। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः अतएव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पाद्गुरोर्बिभेषि। इति काकुः। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी। अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः। 'अधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः। बहुव्रीहेरुधसो ङीष्' इति ङीष्। कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः।

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

तत्तस्मात्कारणात् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम्। कर्मणि षष्ठी। ऊर्जो बलमस्यास्तीति ऊर्जस्वलम्। 'ज्योत्स्नातमिस्रा—'इत्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात्। नेत्याह—महीतलेति। ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं स्थानमाहुः। स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः।

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव। इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थत्वाद्द्विकर्मकः। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम्—'दुहियाचिरुधिप्रच्छिजिक्षिचिनामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना। इति।

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच किंभूतः सन्। तेन सिंहेन यदभ्यासितं व्याक्रमणम्। नपुंसके भावे क्तः। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति षच्। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः। धेन्वा निरीक्ष्यमाणः अत एव सुतरां दयालुः सन्। सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्य–' इत्यादिना सुशब्दात्तरप्। 'किमेत्तिङव्यय' इत्यादिनाम्प्रत्ययः। 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्यय संज्ञा।

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥५३॥

'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः संपदादित्वात्क्विप्। 'गमादीनाम्' क्षतो इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम्। क्षतो नाशात्त्रायत इति क्षत्रः। सुपीति योगविभागात्कः। तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना। उदग्र उन्नतः क्षत्रस्य क्षत्रवर्णस्य शब्दः वाचकः क्षत्रशब्दइत्यर्थः। क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु। नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढः इत्यर्थः। ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्रशब्दस्य विपरीतवृत्ते विरुद्धव्यापारस्य क्षतत्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम्। उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः। 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा–'इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। तैः प्राणैर्वाकिम्। निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः। एतेन 'एकातपत्रम्' (२१४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रत्युक्तमिति वेदितव्यम्।

'अथैकधेनो' (२१४६) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥५४॥

अनुनयः क्रोधापनयः। चकारो वाकारार्थः। महर्षेरनुनयो वान्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां विश्राणनाद्दानात्। 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः कथं नु शक्यः। न शक्य इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह–इमां गां सुरभेः कामधेनोः। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि। तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति। अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु। नपुंसके भावेक्तः। रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः। 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी।

तर्हि किं चिकीर्षितमित्यत्राह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥५५॥

सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् । 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयस्तेन । भवत्तस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थ' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ।

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवतानुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान्यत्नः । महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरं भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

किमपि किं वाहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्याद्दयालुःकारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशः । अत आह—एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिषु अवश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः ।

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

सम्बन्धं सख्यम् । आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते संगतयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः तत्तो हेतोर्हे भूतनाथानुग शिवानुचर । एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव संबन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम् । 'प्रणयास्त्वमी । विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । हन्तुं नार्हसि ।

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय। 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः। सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः। न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन्। स्वदेहम्। आमिषस्य मांसस्य। पललं क्रव्यमामिषम्। इत्यमरः। पिण्डं कवलमिव। उपानयत्समर्पितवान्। एतेन निर्ममत्वमुक्तम्।

तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

तस्मिन्क्षण उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्याधोमुखस्य। 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः। प्रजानां पालयितू राज्ञः उपर्युपरिष्टात्। 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात।

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत्। 'उपमानादाचारे' इति क्यच् ततः शानच्। उत्थितमुत्पन्नम्। 'हे वत्स, उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा। उत्थितः सन्। अस्तेः शतृप्रत्ययः। अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श। सिंहं न ददर्श।

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

विस्मितमाश्चर्यं गतम्। कर्तरि क्तः। तं दिलीपं धेनुरुवाच। किमित्यत्राह—हे साधो मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुर्न समर्थः। अन्ये हिंस्रा घातुकाः। 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः। 'नमिकम्पि—' इत्यादिना रप्रत्ययः। किमुत सुष्ठु। न प्रभव इति योज्यम्। 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वस्त्यतीव च निर्भरे। इत्यमरः।

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

हे पुत्र, गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीतास्मि। 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति चतुर्थी। वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम्। 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। वृणीष्व स्वीकुरु। तथाहि मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि। किन्तु प्रसन्नां माम्। कामान्दोग्धीति कामदुघा। तामवेहि। 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः।

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

ततो मानितार्थी । स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन सः । एतेनास्य । दातृत्वं दन्यराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्तौ समानीय संधाय अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य कर्तारं प्रवर्तयितारम् । अतएव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ।

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

सा पयस्विनी गौः । संतानं कामयत इति सन्तानकामः । कर्मण्यण् । तस्मै राज्ञे तथेति । काम्यते इति कामो वरः । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय हे पुत्र, मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व' । 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः । 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती ।

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

हे मातः, वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम् । वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः । होम एवार्थः । तस्य विधिरनुष्ठानम । तस्य च शेषम् । होमावशिष्टमित्यर्थः । तव । ऊधसि भवमौधस्यं क्षीरम् । 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः । रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव । ऋषेरनुज्ञामधिगम्य । उपभोक्तुमिच्छामि ।

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥६७॥

इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा । पूर्वं शुश्रूषया प्रीता संप्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततरातिसंतुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ।

तस्याःप्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ।

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥६९॥

अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः । सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः । 'वत्सां साभ्यां काम—बले' इति लच्प्रत्ययः । वसिष्ठेन कृतानुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरम् । शुभ्रं मूर्तं परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन्पपौ ।

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥७०॥

वशी वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तस्य पूर्वोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकालेभवम् । तत्कालोचितमित्यर्थः । 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । 'यथाकथंचिद्गुणवृत्यापि काले वर्तमानत्वात्प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य । तौ दम्पती स्वां राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास ।

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥

नृपो हुतं तर्पितम् । हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । 'कर्मण्यण्' । तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् । प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुंच प्रदक्षिणीकृत्य । प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च इति अव्ययीभावः । ततश्च्विः । अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं संपद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलैः प्रदक्षिणादिभिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्घातः पाषाणादिप्रतिघातरहितः अतएव सुखयतीति सुखः । तेन रथेन । स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव । मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे ध्वनिः श्रुतिः। अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ।

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥७३॥

अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठम् । प्रजार्थेन संतानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां नाथं सोममिव । तं राजानं पपुः । अत्यास्थया

ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तम् । प्रजार्थे लोकहितार्थम् । व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः । 'तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ।

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरंदरः शक्रः । 'पूः सर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः। 'वाचंयमपुरंदरौ च' इति मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम् । 'पताका वैजयन्तीस्यात्केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः । पुरं प्रविश्य भुजंगेन्द्रेण समानसारे तुल्यबले । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ।

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

अथ द्यौः सुरवर्त्म । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । अत्रेर्महर्षेर्नयनयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति यत्प्रत्ययः । ज्योतिरिव । चन्द्रमिवेत्यर्थः । ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे—'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा । समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभावितः । पपात भासयल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावनः ।' इति । सुरसरिद्गङ्गा वह्निनानिष्ठ्यूतं निक्षिप्तम् । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यनेन निपूर्वात्ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणम्—'ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः । देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन । शैलपुत्र्या महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज । देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् । इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यरूपमधारयत् । स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य च । समन्ततस्तु तां देवीमभ्यसिञ्चत पावकः । सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ।' इति राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै संततिलक्षणायै गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टमनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त । दधावित्यर्थः । अत्र मनुः—'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः । इति । अत्र 'आधत्त' इत्यनेन स्त्री कर्तृक-

धारणमात्रमुच्यते। तथा मन्त्रे च दृश्यते—'यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे । एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ।' इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारणे आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति ।

मालिनी-वृत्तमेतत् । तदुक्तम्-'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः इति लक्षणात् ।

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनी-समाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनी-वरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः



अथ श्रीभर्तृहरियोगीन्द्र-विरचित

नीति-शतक

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

दिशः प्राच्यादिदिक्प्रदेशाः, काला भूतभविष्यद्वर्तमानरूपा, आदिशब्दसंगृहीतानि वस्तूनि तथा च दिक्काला आदयो येषां तानि दिक्कालादीनि । अतद्गुणसंविज्ञानोबहुव्रीहिः । तैरनवच्छिन्नापरिक्लृप्ता । विभुत्वादेकत्वाच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नेत्यर्थः अत एव अनन्ता अपरिमिता चिन्मात्रा ज्ञानघना, तादृशीमूर्तिः यस्य तस्मै । तथा स्वात्मानुभूतिरात्मानुभव एव मानं प्रमाणं न तु घटादेरिव चक्षुरादिप्रमाणिकत्वम् इति भावः । यस्य तस्मै । तथा शान्ताय-अविद्यातत्कार्यसम्बन्धशून्यत्वात्प्रसन्नाय । तेजसे ज्योतीरूपाय नमः प्रह्वीभावः । 'नमः स्वस्ति-' इत्यादिना चतुर्थी । अत्र नमस्काररूपं मङ्गलमाचरितम् । श्लोकाख्यमेतदानुष्टुभं वृत्तम् ।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम ॥२॥

बोद्धारः परिज्ञातारः 'बुध अवगमने इत्यस्माद्धातोस्तृच् । मत्सरेणासूयया परोत्कर्षासहनेन ग्रस्ताः समाक्रान्ताः । न तु हृदयालवः, अतो नानुमोदन्त इति भावः प्रभवो राजानः स्मयदूषिता गर्वदुर्विनीताः । न तु विनयप्रह्वाः, अतो न शृण्वन्तीति भावः । अन्ये-उक्तोभयव्यतिरिक्तजनाः अबोधेनाज्ञानेनोपहता नष्टात्मानः । ते नाधिकारिणः । तस्मात् सुभाषितं साधुभाषणम् । अङ्गेऽन्तरङ्गे जीर्णमन्तर्हितम् । न त्वद्यापि बहिः प्रवृत्तम् । तथापि वक्ष्यामीति वाक्यशेषः ।

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवं,
तदासर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥३॥

अहं किंचिज्ज्ञोऽल्पज्ञः सन् यदा यस्मिन् समये गज इव मदेन दर्पेणान्धः कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यः समभवं जातोस्मि, तदा तस्मिन् समये सर्वज्ञोऽशेषज्ञोऽस्मीति मम मनोऽवलिप्तं गर्वितमभवत् । 'अल्पविद्यो महागर्वी' इति न्यायात् 'अवलेपस्तु गर्वे स्यात्' इति विश्वप्रकाशः। यदा बुधजनसकाशात-विद्वज्जनमुखात् 'आख्यातोपयोगे' इति पञ्चमी । किंचित् किंचित्स्वल्पं स्वल्पम् । शास्त्रबोधिताचारादिकमितिशेषः । अवगतं ज्ञातम् । तथा मूर्खो मूढोऽस्मीति मे मम मदो ज्वर इव व्यपगतः निर्गतः अभूदितिशेषः । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रवणादाचार्यावगतविद्यस्यैव विवेकः सम्भव इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥४॥

रूपं नाम कुण्डलहारनूपुराङ्गदादिचतुर्विधभूषणाभावेऽपि विभूषितवद्भासमान आकारविशेषः । विद्या नाम वेदशास्त्राद्यात्मिकाविद्यैव नरस्य पुंसोऽधिकं भूयिष्ठं रूपम तथा प्रच्छन्नं निगूढं यथा तथा गुप्तं रक्षितं धनं विद्यैवेति सम्बन्धः । विद्या भोगान् करोतीति भोगकरी । तथा यशः समाख्या सुखमिंद्रियतर्पणम् । एतत्करी एतद्धेतुश्च । उभयत्रापि 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति प्रत्यये टित्वान्ङीप् । तथा विद्या गृणान्त्युपदिशन्तीति गुरवस्तेषां हिताहितोपदेष्टॄणामाचार्याणामपि गुरुरुपदेष्टृभूता । विद्या विदेशगमनेप्रवासे बन्धुजनः सुहृज्जनः । विद्या परा देवता परात्मभूता । मोक्षदायकत्वादिति भावः, यद्वा परा देवता स्वाभीष्ट देवता । विद्या राजसु पूज्यते राजमध्ये प्रशस्यते । धनं द्रव्यं तु नहि । उक्तप्रकारं न भवतीत्यर्थः । तस्माद्विद्ययोक्तरूपया विहीनः शून्यः जनः पशुः पशुप्रायः । कर्तव्याकर्तव्यविवेकराहित्यादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितम् ।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ ५ ॥

धियो बुद्धेर्जाड्यं मान्द्यं हरति निरस्यति । वाचि वचने सत्यं सूनृतभावं सिञ्चति आप्लावयति । मानोन्नतिं बहुमानातिशयं दिशति प्रयच्छति । पापं किल्विषमपाकरोति नाशयति । धर्मोपदेशादिना । तथा चेतः प्रसादयति निर्मलयति ज्ञानोपदेशादिना । दिक्षु दिशासु कीर्तिं तनोति विस्तारयति । अतः सत्संगतिः—सज्जनसमागमः पुसां किं श्रेयो न करोति । कथय इति पृथग्-जन सम्बोधनम् । सर्वमपि श्रेयः करोत्येवेत्यर्थः । अतः सत्सङ्गतिः—कार्या । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणास्तत्राप्यधो गच्छतां
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ ६ ॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादि रसातलं नामाधोलोकं यातु गच्छतु । भ्रश्यत्वित्यर्थः । गुणगणो धैर्यौदार्यादिगुणसमूहस्तत्रापि रसातलापेक्षयाप्यधः पाताललोकं गच्छतां प्राप्नुयात् । शीलं सत्स्वभावः शैलतटात्पततु । विशीर्णः भवत्वित्यर्थः । अभिजनो वंशः' इत्यमरः । वह्निना संदह्यतां भस्मीक्रियताम् । वैरिणि संक्षोभकारित्वाच्छत्रुभूते शौर्ये आशु शीघ्रं वज्रमशनिर्निपततु । अशनिनिपातेन तदपि विध्वस्तं भवतु । एवंपूर्वोक्त-जातिकुलादिनाशेऽप्यस्माकं न किंचिदपिच्छिन्नम् । नः अस्माकम् अर्थः केवलं वित्तमेवास्तु संभवतु । अयमेवास्माकं परमार्थ इति भावः । एकेन केवलेन 'एके मुख्या-न्यकेवला' इत्यमरः । येनार्थेन विना इमे पूर्वोक्ताः समस्ता अपि गुणाः जातिकुलादयः तृणलवप्रायास्तृणकल्पाः । तद्वन्निस्सारा इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितम् ।

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतशुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तव्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ७ ॥

ह्रीमति लज्जावति पुंसि जाड्यं मान्द्यम्, गण्यते संख्यायते दुर्जनैरितिशेषः व्रतैस्तपश्चान्द्रायणादिनियमैः शुचौ शुद्धे दम्भो धर्मध्वजित्वं गण्यते, न त्वनुष्ठातृत्वम् । शुचौ स्वभावादेव बाह्यान्तरशुद्धे कैतवं कपटं गण्यते, न तु पारमार्थिकत्वम् । शूरे निर्घृणता दयाराहित्यं गण्यते, न तु विक्रान्तत्वम् । मुनौ मननशीले विमतिता बुद्धिदैन्यं गण्यते, न त्वात्मैक्यानुसंधानतत्परत्वम् । प्रियालापिनि मधुरवादिनि दैन्यं गण्यते न तु-श्रवणानन्दकरत्वम् । तेजः प्रागल्भ्यं प्रभाविशेषो वा तद्वति अवलिप्तता गर्वग्रस्तत्वं गण्यते, न तु स्वभावः । वक्तव्येष्वर्थेषु शक्तिः प्रतिभापरपर्यायः सामर्थ्यविशेषः तया स्थिरे । मुखमस्यास्तीति मुखरो दुर्मुखः 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ, इत्यमरः । खमुखकुञ्जेभ्यः इति र प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्ता । असम्बद्धप्रलापित्वमित्यर्थः । गण्यते, न तु वाग्मित्वम् । तत्तस्मात्कारणात् गुणिनां गुणसम्पन्नानां स को नाम गुणोभवेत, यो दुर्जनैः न अङ्कितः दूषितः । दुर्जनादूषितो गुणः सुगुणिनां न कोऽप्यस्तीत्यर्थः । शार्दूल विक्रीडितम् ।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोऽप्यप्रगल्भः ।

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ८ ॥

मौनात्तूष्णींभावान्मूको निर्वचो भवति । सेवक इति शेषः । प्रवचनपटुः प्रगल्भश्चातिवक्ता वाचको बहुभाषी, जल्पतीति जल्पकोऽसंबद्धप्रलापी वा भवति। पार्श्वे समीपे च वसन् धृष्टो निर्भीको भवति । दूरतो विप्रकृष्टे देशे वसन्नप्रगल्भोऽप्रौढो भवति । क्षान्त्या परिभवादिषूपपद्यमानेषु उत्पद्यमानेषु वा क्रोधप्रतिबद्धलक्षणयोपलक्षितश्चेद् भीरुर्भयशीलो भवति । न सहते परिभवादिकं क्षमते यदि, तर्हि प्रायशो बाहुल्येन अभिजातः सत्कुलीनः न भवति । अतः परमगहनः अत्यन्त दुरवगाहः सेवाधर्मः परिचर्यात्मकं कर्म योगिनामपि कालत्रयाभिज्ञानामपि । किमुतान्येषामिति भावः अगम्यो ज्ञातुमशक्यः सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः । वृत्तं मन्दाक्रान्ता ।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमुपैति पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ९ ॥

पूर्वार्धपरार्धाभ्यां पूर्वाह्णापराह्णभेदेन भिन्ना पृथग्विधा छायात्वनातपे कान्तौ' इति वैजयन्ती । आरम्भे प्रारम्भसमये गुर्वी गुरुः । वर्धिष्णुरित्यर्थः, 'वोतो गुणवचनादिति' विकल्पान्ङीष् । क्रमेण कालक्रमेण क्षयिणी क्षयिष्णुश्च । 'जिदृक्षि' इत्यादिना इनिः । तथा पुरा प्रारम्भे लघ्वी ह्रस्वेत्यर्थः पश्चादनन्तरं वृद्धिमुपैति प्राप्नोति । अयमर्थः— दुर्जनमैत्री पूर्वाह्णच्छायेव प्रारम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी च भवति । सुजनमैत्री तावदपराह्णछायेवादौ लघ्वी ततो वर्धिष्णुश्च भवतीति । उपजाति वृत्तम् ।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः ।
यशसि चाभिरतिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ १० ॥

विपदि आपत्काले धैर्यं निर्विकारचित्तत्वम् । अथ अनन्तरं वाक्यारम्भे वा अभ्युदये संपदि क्षमा सहिष्णुत्वम् । सदसि राजविद्वत्सभायां वाक्पटुता वाग्मित्वं सरसवचनं च। वाक्चातुर्यमितियावत् । युधिरणरङ्गे विक्रमः पराक्रमः । यशसि अभिरतिः संग्रहेच्छा । श्रुतौ वेदशास्त्राभ्यसने व्यसनमासक्तिः । इतीदं सर्वं महात्मनां महानुभावानां प्रकृतिसिद्धं स्वभावसिद्धं हि । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं दृश्यते ॥
अन्तः सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः ॥ ११ ॥

संतप्तायसि सम्यगग्नितप्तायःपिण्डे संस्थितस्य निक्षिप्तस्येत्यर्थः पयसो जलस्य नामापि नामधेयमात्रमपि न श्रूयते । मूलतो ध्वस्तमेव भवतीत्यर्थः । तदेव पयो नलिनीपत्रस्थितं पद्मपत्रगतं सत् मुक्ताकारतया मौक्तिकरूपेण दृश्यते । तदेव पयोऽन्तः सागरे सागरान्तराले या शुक्तिर्मुक्तास्फोटस्तस्या मध्ये उदरे पतितं सत् मौक्तिकं जायते । मुक्तैवमौक्तिकमिति विग्रहः । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । अतः प्रायेण भूम्ना अधममध्य-मोत्तमजुषां निकृष्टसाधारणोत्कृष्टाश्रयाणां श्रितवतामेवंविधा नामाश्रवणादयो वृत्तयो व्यापारा भवन्तीति यथाक्रममन्वयः अतः महदाश्रय एव कर्तव्यः । शार्दूल विक्रीडितम् ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम ॥१२॥

तरवः पनसरसालादिवृक्षाः फलोद्गमैः फलभारैः नम्रा अवनता भवन्ति । घना मेघा नवाम्बुभिर्नूतनोदकैरुपलक्षिताः सन्तो दूरविलम्बिनः सर्वत्र प्रवर्षणार्थमन्तरि-क्षसंचारिणो भवन्ति । सत्पुरुषाः समृद्धिभिरुपलक्षिताः अप्यनुद्धता अनुच्चण्डा भवन्ति । तथा एष उक्तनिजनम्रत्वादिव्यवहारः परोपकारिणां परहिताचरणतत्पराणां स्वभावः निसर्गसिद्ध एव । न त्वाहार्यक इत्यर्थः । वंशस्थवृत्तम् ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥१३॥

नीतिनिपुणा नयविशारदा निन्दन्तु कथंचिद्दूषयन्तु वा, यदि अथवा स्तुवन्तु भूषयन्तु वा । लक्ष्मीः संपत्समाविशतु प्राप्नोतु वा, उत यथेष्टं निरर्गलं गच्छतु वा । अद्यैवेदानीमेव मरणं निधनमस्तु वा, उत युगान्तरे कल्पान्तरे वास्तु । तथापि धीरा धैर्यशालिनो न्याय्यान्न्यायादनपेतात्पथो मार्गात्पदमेकपादविन्यासमात्रमपि न प्रविचलन्ति न भ्रश्यन्ति । तेषां न्यायमार्गापरित्याग एव परमार्थो न निन्दास्तुत्या-दिरितिभावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

वैराग्यशतके

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते।
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्।
तत्किं तेन निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्॥१४॥

विविधैः नानाप्रकारैः आधीनां मनोव्यथानां व्याधीनां पित्तादिशरीररोगाणां च शतैः। अनेकैराधिव्याधिभिरित्यर्थः। पुंस्याधिर्मानिसी व्यथा' 'रोगव्याधिगदामयाः' इति चामरः। जनस्य आरोग्यं देहस्वास्थ्यं उन्मूल्यते निर्मूलीक्रियते। तथा यत्र यस्मिन्पुरुषे लक्ष्मीः ऐश्वर्यसमृद्धिः। तिष्ठतीति शेषः। तत्र तस्मिन्पुरुषे व्यापदः महोपद्रवाः विवृतानि उद्घाटितानिद्वाराणि कवाटानि यासां तास्तथोक्ता इव पतन्ति। तथा मृत्युः अन्तकः जातंजातं प्रारब्धकर्मवशात्पुनःपुनरुत्पन्नम्। वीप्सायां द्विर्भावः। अतएव विवशं विह्वलं जन्तुमिति शेषः। अवश्यं नियतं आशु शीघ्रमेव आत्मसात् आत्माधीनं करोति। मारयतीत्यर्थः। अतः तेन प्रसिद्धेन निरङ्कुशेन निर्गलेन विधिना ब्रह्मणा यद्वस्तु निर्मितं तत्किं वा सुस्थिरम्। न किमपीत्यर्थः। अतोऽस्थिरभोगाशंसनं न कर्तव्यम्। शार्दूलविक्रीडितम्।

सा रम्या नगरी महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः।
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥१५॥

अत्र सर्वत्रापि तच्छब्दः पूर्वानुभूतविषयः। तथा च सा पूर्वानुभूता। रन्तुंयोग्या रम्या मनोहरा नगरी राजधानी च तत्र स महान् साम्राज्यभारधौरेयतया पूज्यो नृपतिः राजा च। तस्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी सर्वत्र संबध्यते। तस्यनृपतेस्तत् सामन्तचक्रम् प्रत्यर्थिराजमण्डलम्। यद्वा सेवार्थं समागताखण्डमण्डलाधिपतिपरिवारश्च तस्य पार्श्वे स्थितमिति शेषः। सा विदग्धपरिषत् विद्वत्सभा। अथवा विदग्धानां कर्तव्यार्थचतुराणां परिषत् समुदायश्च तस्य ताः चन्द्रबिम्बमिव आननं यासां ताः सुन्दर्यश्च। यस्य स उद्वृत्तः उत्पथगतः। उद्दण्ड इति यावत्। राजपुत्रनिवहः राजकुमारवर्गश्च, तस्य ते वन्दिनः स्तुतिपाठकाश्च। 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः। यस्य ताः कथाश्च श्राव्यवाचश्च। इति सर्वं अशेषमपि यस्य कालस्य वशाद् आयत्तत्वात् स्मृतिपथं स्मरणमार्गं अगात् प्रापत्। कालमहिम्ना सर्वमपि नष्टमभूदित्यर्थः। तस्मै कालाय नमः प्रह्वीभावः। शार्दूलविक्रीडितम्।

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन्द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः॥ १६॥

यत्र यस्मिन् गृहे वेश्मनि कोष्ठे च क्वचिदपि कदाचित्। यद्वा यत्र क्वचिदपि यस्मिन् कस्मिंश्चिद्गृहे। अनेकः बहुलः प्राणी शारश्च तिष्ठति, अथानन्तरं तत्र तस्मिन्नेव गृहे कदाचिदेकस्तिष्ठति। एकत्र कालभेदवशात्, अन्यत्र परिणामवशाच्चेति भावः। तथा यत्र यस्मिन् गृहे कदाचिदेकस्तिष्ठति तदनु तदनन्तरं बहवश्च तिष्ठन्तीति शेषः। तत्र तस्मिन् गृहे अन्ते अवसानकाले द्यूतसमाप्तौ च एकोऽपि न तिष्ठति। इत्थं उक्तरीत्या भुवनं फलकमिव शारप्रवर्तनोचितकोष्ठयन्त्रमिव तस्मिन् नेयैः। प्रवर्तनीयैरिति यावत। प्राणिनः शारा इव द्यूतगूढा इव। अक्षोपकरणानीवेतियावत तैः साधनैः 'शारे द्यूत गूढो नपुंसकम्' इति वैजयन्ती। कल्यः कलनासमर्थः देवनचतुरश्च कालः (कर्ता) अक्षधूर्तश्च गम्यते। रजनिदिवसौ रात्र्यहनी (कर्म) द्वौ अक्षौ पाशकाविव 'पणोऽक्षेषु ग्लहोऽक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः। लोलयन् पौनःपुन्येन गृह्णन् सृजंश्चेत्यर्थः। क्रीडति दीव्यति। प्राणिसंयोगवियोगयोः वृद्धिक्षयादीनां च काल एव कर्तेति भावः। मन्दाक्रान्तावृत्तम्।

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च संपूर्णविभवः।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु
र्नरःसंसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्॥ १७॥

क्षणं क्षणमात्रम्। ईषत्कालमित्यर्थः। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। बालः शिशुः भूत्वा तथा क्षणमपि कामेन मन्मथेन रसिकः शृङ्गाररसाभिनिविष्टः। यद्वा काम्यन्ते अभिलष्यन्त इति कामाः तेषु रसिकः अनुरागवान्, युवा तरुणश्च भूत्वा। तथा क्षणं वित्तैर्हीनः निर्धनो भूत्वा। क्षणमपि च संपूर्णविभवः परिपूर्णधनश्च भूत्वा। तथा क्षणं जरया जीर्णैः शिथिलैः अङ्गैरुपलक्षितः अतएव वलीभिः विश्लथचर्मभङ्गीभिः मण्डिता भूषिता, तनुः गात्रं यस्य तथोक्तो भूत्वा नरः सर्वोऽपीत्यर्थः नटः तत्तद्वेषधारी नर्तक इव संसारस्य बाल्ययौवनाद्यवस्थानुभवरूपसंसारकपटनाटकस्य नाट्यप्रवर्तकाडम्बरस्य च अन्ते अवसाने। यमो धीयतेऽत्रेति यमधानी संयमिनीनाम्नी यमपुरी सा यवनिका प्रतिसीरा तिरस्करिणीव तां विशति मृतो भवति। अन्यत्र प्रविष्टो भवतीत्यर्थः। 'प्रति-सीरा यवनिका। इत्यमरः। शिखरिणी वृत्तम्।

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥१८॥

यावत् यावत्पर्यन्तं इदं एतत् शरीरं स्वस्थं पीडारहितम् । भवतीति शेषः । एवमुत्तरत्रापि । तथा यावत् न विद्यते रुजा रुक् यस्य तथोक्तं आरोग्ययुक्तं भवति । 'स्त्रीरुग्रुजा चोपतापः' इत्यमरः तथा यावत् जरा दूरतः दूरे भवति । तथा यावत् इन्द्रियशक्तिः चक्षुरादिपाटवं च अप्रतिहता अखण्डिता भवति । यावत् आयुषः क्षयः नाशो न भवति । तावत् तावत्पर्यन्तमेव । तन्मध्यकाल एवेत्यर्थः वेत्तीति विद्वान् तेन विदुषा अभिज्ञेन 'विदेः शतुर्वसुः' इति वसुप्रत्ययः । आत्मनः श्रेयसि विषये मोक्षप्राप्तावित्यर्थः महान् फलजननपर्याप्तत्वेन पूज्यप्रयत्नः ज्ञानवैराग्यतपःसंपादनोद्योगः कार्यः । ननु कोऽयं नियमः अवसानेऽपि प्रयत्नस्य कर्तुं युक्तत्वादित्याशङ्क्य व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—भवने गृहे सन्दीप्ते अग्निना दह्यमाने सति कूपखननं प्रति कूपनिर्माणं प्रति उद्यमः प्रयत्नः कीदृशः कीदृग्विधः । न युक्त इत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडितम् ।

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल,
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्सङ्गवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल–
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥१९॥

हे मातः जननि मेदिनि वसुमति, हे तात जनक मारुत वायो, हे सखे सुहृत् तेजः, हे सुबन्धो शोभनबन्धो जल उदक, हे भ्रातः सहोदर व्योम अम्बर, भवतां युष्माकं अन्त्यः चरमः प्रणामाञ्जलिः नमस्कारपूर्वकाञ्जलिः निबद्ध एव । 'पाणिर्निकुब्जः प्रसृतिस्तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः । युष्माकं सङ्गस्य योगस्य वशेन आधीनेन उपजातं यत्सुकृतं तेन स्फारं विस्तारं स्फुरत् निर्मलं च यत् ज्ञानं तेन अपास्तः दूरतस्त्यक्तः, समस्तमोहमहिमा पुत्रमित्रकलत्राद्यभिनिवेशाज्ञानातिशयः सन् अहं परे ब्रह्मणि सच्चिदानन्दस्वरूपिणि निर्विकारे, निष्कलङ्के, निरञ्जने ब्रह्मणि लीये । एवं च दारैषणावित्तैषणापुत्रैषणादिरहितः सन् चिदानन्दस्वरूपः सन् विदेहकैवल्यं जीवन्मुक्तः सन् अहं वर्ते इत्याशयः । शार्दूलविक्रीडितम् ।

इति श्रीभर्तृहरिकृतनीतिवैराग्यशतकयोः ।



प्रकाशक
मेहर चन्द्र लक्ष्मण दास,
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता
कूचा चेलां, गली नन्हेय्याँ फ़ैज बाज़ार,
दरियागंज, दिल्ली ।







